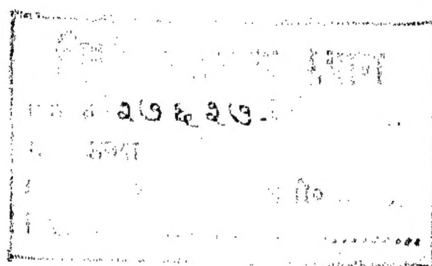
मूल्य ३)



मुद्रक—देवकुमार मिश्र, हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना

स्मृतिशेष

माँ

के चरणों में

आत्म-निवेदन

अज्ञों की अज्ञता प्रकट न हो इसके लिये नीतिशास्त्र एक बड़ी सरल युक्ति बताता है कि उन्हें विज्ञ-समाज में मौन से काम लेना चाहिए। उसके प्रतिकूल मैं अपनी अज्ञता का सार्वजनिक रूप में प्रचार करने को बद्ध-परिकर हूँ। कहाँ तो मुँह न खोलने की वह अमूल्य सम्मति और कहाँ यह ढिंढोरा पीटने का दुराग्रह! पर यदि सदा मौन से ही काम लिया जाय तो अपने दोषों का परिज्ञान कैसे हो और बिना जाने उनके निराकरण की चेष्टा ही असम्भव है। इसलिये अपनी अयोग्यता और अज्ञता का स्वयं कायल होते हुए भी मैंने जो वाचालता की है वह इसी उद्देश्य से।

अलंकार-ग्रन्थों की संख्या में शायद अनावश्यक वृद्धि करनेवाले इस प्रयास के लिये, अपनी सार्थकता के सम्बन्ध में, दो शब्द निवेदन करना उचित है। हिन्दी में अलंकार-ग्रन्थों की कमी नहीं है और कई तो अनेक अधिकारी विद्वानों द्वारा बहुत ही योग्यता से लिखे गये हैं। फिर भी मैंने इस विषय पर लेखनी चलाने की जो धृष्टता की वह क्यों? विगत कई वर्षों से पटना विश्वविद्यालय के बी० ए० (ऑनर्स) और एम० ए० कक्षाओं में, और विषयों के अतिरिक्त, मैं अलंकार-शास्त्र भी पढ़ाता आया हूँ, इसलिये एक अध्यापक के नाते विद्यार्थियों की उलझनों को बहुत समीप से देख और समझ सका हूँ। ज्यों-ज्यों मैं उनके सम्पर्क में आता गया त्यों-त्यों मेरी यह भावना दृढ़तर होती गयी कि उन (विद्यार्थियों) के दृष्टिकोण से यदि अलंकार पर एक और ग्रन्थ लिखा जाय तो वह श्रम सर्वथा व्यर्थ नहीं होगा। यद्यपि एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता तो मुझे कुछ दिनों से मालूम हो रही थी,

पर मैंने कभी गम्भीरतापूर्वक उसे लिखने को नहीं सोचा। गत वर्ष गर्मी की छुट्टियों में यह बात न जाने कैसे घटित हो गयी। मैं घर पर बेकार-सा था। एक दिन मेरे मन में यह बात फिर उठी और मैं लिखने को प्रस्तुत हो गया किन्तु वहाँ कोई भी साधन नहीं था। पास में पुस्तकें एकदम नहीं थीं। किसी-किसी प्रकार एक साहित्य-दर्पण और बिहारी-सतसई मँगनी मिल सकीं और उन्हीं के बल पर इस पुस्तक का श्रीगणेश हो गया। खड़ी बोली के कुछ पद्य-ग्रन्थ साथ थे जिनसे उदाहरण ढूँढ़ने का काम भी चलता रहा। लगभग एक महीने के अनवरत परिश्रम के बाद यह पुस्तक तैयार हो पायी। उसके अनन्तर पटने आने पर दूसरी पुस्तकों के आधार पर इसमें कुछ जोड़-घटाव किया गया और उसका यह वर्त्तमान रूप आप के सामने है। संक्षेप में यही इसकी रचना की कहानी है।

मेरी यह दृढ़ धारणा है और इससे बहुतेरे सहमत भी होंगे कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया है त्यों-त्यों मानव-मस्तिष्क की मेधा-शक्ति अप्रत्याशित रूप से क्षीण होती गयी है। आज दस-बीस पँक्तियाँ भी बिना पुस्तक देखे दुहरानेवाले मुश्किल से मिलते हैं। विद्यार्थी 'याद करने' की कठिनाई से बेतरह पीछा छुड़ाना चाहते हैं। 'रटना' फैशन के विरुद्ध समझा जाने लगा है। किसी वस्तु को समझ लेना ही पर्याप्त मान लिया जाता है। परिणाम यह होता है कि विद्या पुस्तक में ही रह जाती है और 'परहस्तस्थ धन' की तरह वह 'पुस्तकस्थ विद्या' 'कार्य-काल समुत्पन्न' होने पर प्रायः धोखा दे जाती है। दुर्भाग्यवश अलंकार-शास्त्र इस समझनेवाली एकांगी प्रणाली का अपवाद है। बिना कण्ठस्थ किये, केवल समझने के बल पर, अलंकार के विषय में कुछ साधिकार कहना असम्भव-सा है। इस कारण आज के विद्यार्थियों के लिये एक ऐसी पुस्तक की अपेक्षा है जिसमें समझने के साथ याद करने की सुगमता भी वर्तमान हो।

आजकल यह फैशन चल गया है कि प्राचीन वस्तुओं का—वे

अच्छी हों या बुरी—आँख बन्द कर बहिष्कार करना चाहिए। प्राचीन होने मात्र से ही किस वस्तु को हेय मान लिया जाता है। प्राचीन साहित्य की चर्चा तक 'अप-टु-डेट-नेस' के खिलाफ समझी जाती है। यह संकुचित दृष्टिकोण एकांगिता का सूचक है और कोई भी सत्साहित्यिक इसका समर्थन नहीं कर सकता। मैं अलंकारों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य समझता हूँ। जिस कारण से हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन उचित और आवश्यक है उसी कारण से अलंकार-शास्त्र का भी। दो बातें हैं। एक तो यह कि हिन्दी-साहित्य के दो सौ वर्षों का (और दो सौ वर्ष कोई कम नहीं होते) इतिहास अलंकारों का ही इतिहास है। रीतिकाल में सिवा अलंकार के दूसरा है क्या? और अलंकार का परिज्ञान रहे बिना यदि कोई उस काल की रचनाओं को अच्छी तरह समझने का दावा करता है तो कहना होगा कि या तो वह अपने ही को नहीं समझ रहा है या रीतिकाल ही को। हाँ, यदि इन दो सौ वर्षों के साहित्य को ठीक से समझे बिना भी कोई अपनी विद्वत्ता से सन्तोष कर लेना चाहे तो अलंकार से मुँह मोड़ लेने को वह स्वतन्त्र है। यह तो हुआ साहित्य के इतिहास की दृष्टि से। आलोचना के इतिहास की दृष्टि से भी अलंकार का अध्ययन बड़े महत्त्व का है। यह न भूलना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना का सूत्रपात अलंकारों से ही हुआ और बहुत दिनों तक अलंकार ही काव्य के प्राण माने जाते रहे। पन्द्रह सौ वर्षों के लगभग जो अलंकार, आलोचना के क्षेत्र में एक प्रधान मानदण्ड रहा, उससे अपरिचित रहना भारतीय आलोचना के विकास की विभिन्न परम्पराओं से भी अपरिचित रहना है। आज अलंकार शब्द का भले ही प्रयोग न हो पर काव्य की समीक्षा के प्रसंग में अच्छे-बुरे का निर्णय करने के लिये जो साधन काम में लाये जाते हैं, उनमें अच्छाई के निर्देशक किसी-न-किसी रूप में पहले के अलंकार कहलानेवाले पदार्थ ही रहते हैं। हाँ, आज उनके लिये दूसरे शब्दों का प्रयोग किया जाता है,

पहले उन्हें ही अलंकार कहा जाता था। बात वही है, अंतर केवल नाम का है। इस प्रकार इन दोनों कारणों से अलंकार-शास्त्र का अनुशीलन उचित और अपेक्षित है।

हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थों में ब्रजभाषा में लिखे गये ग्रन्थ आज के विद्यार्थियों के लिये दुरवगाह हैं। खड़ी बोली के ग्रन्थों में विषय की व्यापकता और शास्त्रीय विवेचन-पटुता की दृष्टि से सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का काव्य कल्पद्रुम (अलंकार-मंजरी) शेष सभी ग्रन्थों का उपजीव्य है। खड़ी बोली के प्रायः सभी अलंकार-लेखकों ने इसी को आदर्श माना है, इसलिये इसके गुण-दोष कम या अधिक मात्रा में उन सबों में वर्त्तमान हैं। 'प्रधान-मल्ल-निवर्हण-न्याय' से मैं उसी पर दो शब्द कहना चाहता हूँ। इसका आदि रूप (अलंकार-प्रकाश के नाम से) आज से आधी शताब्दी से भी अधिक पहले (सम्वत् १९५९ में) प्रणीत हुआ था और उसी का परिवर्द्धित रूप अलंकार-मंजरी है। इसलिये इसके लेखक (पोद्दारजी) को उन सभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जो किसी दिशा-विशेष में पहले-पहल पाँव बढ़ानेवाले को मिला करती हैं। खड़ी बोली में अलंकार लिखने के वे मार्ग-दर्शक हैं अतः इस पुस्तक का महत्त्व बहुत बड़ा है। इसकी रचना में गम्भीर अध्ययन, पर्याप्त अनुशीलन और सूक्ष्म विवेचन से काम लिया गया है किन्तु प्रथम प्रयास होने के नाते जो कुछ-एक दोष अनिवार्य थे वे भी इसमें वर्त्तमान हैं। पहली बात यह है कि इसमें संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों का अन्धानुसरण किया गया है। संस्कृत और हिन्दी की प्रकृति भिन्न है, यह बात भुला दी गयी है। दूसरी बात यह कि इसके अधिक उदाहरण ब्रजभाषा के और वे भी प्रायः कवित्त-सवैया जैसे बड़े छन्दों में हैं, जिन्हें याद करने में आज के विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाई होती है। आज से पचास वर्ष पहले ब्रजभाषा का जो प्रचार था वह आज नहीं है। उस समय वही साहित्यिकों का कण्ठहार थी पर आज उसे अपदस्थ कर उसकी जगह खड़ी बोली खड़ी

है। व्रजभाषा-साहित्य अतीत की वस्तु बन चुका है। ऐसी दशा में व्रजभाषा के उदाहरणों को समझने में एक विचित्र कठिनाई उठानी पड़ती है। पहले तो दो बार पढ़ने पर मुश्किल से अर्थ समझ में आता है; फिर यह ढूँढ़िये कि कोई अलंकार किस स्थल-विशेष में है यानी कोई पहेली बूझ रहे हों। इस तरह तीन उड़ान में तित्तिर पकड़नेवाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। बिना तीन बार के किसी अलंकार का सम्यक ज्ञान नहीं होता। और सबके ऊपर एक लम्बे छन्द को कण्ठस्थ करने की मुसीबत! तीसरी बात यह है इस पुस्तक के लक्षणों की बोली भी कुछ शिथिल है। कहीं-कहीं तो वक्तव्य ऐसा दुरूह हो गया है (दे० काव्यलिंग का लक्षण) कि उसका तात्पर्य ही नहीं समझ में आता।

मैंने इन त्रुटियों से इस पुस्तक को शक्ति भर मुक्त रखने की चेष्टा की है; विषय-निरूपण में हिंदी की प्रकृति को ध्यान में रखा है अतः अलंकारों के वे भेद-प्रभेद, जो हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं, छोड़ दिये हैं; प्रायः प्रत्येक प्रधान अलंकार में मैंने व्रजभाषा के साथ खड़ी बोली के उदाहरण भी रखे हैं जिससे रुचिभेद के अनुसार विद्यार्थी जिसे चाहें याद कर सकें। पर एक बात है। व्रजभाषा की एकदम उपेक्षा कर खड़ी बोली के उत्तम उदाहरण ढूँढ़ लेना असंभव-सा है। उसका अनुभव तो एक इसी बात से होगा कि मैंने खड़ी बोली के उदाहरण चुनने के उद्देश्य से कई काव्य-ग्रंथों—कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास, नूरजहाँ, हल्दीघाटी, कुरुक्षेत्र, पल्लव, गुंजन, लहर, निशा-निमंत्रण आदि—का एक बार पारायण किया परंतु प्रयास के अनुपात में बहुत कम मनोनुकूल उदाहरण मिल सके। ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक था क्योंकि आधुनिक साहित्य ने अलंकारों के प्रति केवल उदासीनता और उपेक्षा का भाव ही नहीं रखा है, बल्कि जान-बूझकर उनके बहिष्कार की चेष्टा की है। ऐसी दशा में व्रजभाषा के उदाहरणों से पिंड छुड़ा लेना न तो उचित था न संभव। अलंकारों का अलंकार

की दृष्टि से जो सुशृंखल और रमणीय विन्यास व्रजभाषा में है वह खड़ी बोली की कविताओं में निश्चय ही नहीं है। वहाँ अलंकार अज्ञात भाव से आ गये तो आ गये, वहाँ उन्हीं की प्रधानता भी। आज कविता साध्य है, अलंकार केवल साधन (वह भी अत्यंत गौण-रूप में); तब अलंकार ही साध्य थे और कविता उनका साधनमात्र। दोनों दृष्टियों में आकाश-पाताल का अंतर है। इसलिये उदाहरणों के चयन में व्रजभाषा की उपेक्षा—विषय-प्रतिपादन और रमणीयता, दोनों ही प्रकार से—ठीक नहीं होती।

परंतु यह मैंने सदा ध्यान में रखा है कि उदाहरणों में भरसक कवित्त-सवैये न आवें—अधिकतर दोहे ही रहें; कारण कि जबतक आठ पंक्तियों का एक कवित्त (जो किसी एक अलंकार का उदाहरण होगा) याद किया जायगा तब तक चार दोहे, जो चार अलंकारों के उदाहरण होंगे, याद हो जायँगे। आठ पंक्तियों के उदाहरण में अलंकार ढूँढ़ने की अपेक्षा, दो पँक्तियों में अलंकार ढूँढ़ लेना कहीं सुकर भी है। खड़ी बोली के उदाहरणों में भी मैंने यही पद्धति अपनायी है। तात्पर्य यह कि बड़े उदाहरणों से मैंने सदा बचने की कोशिश की है और वह केवल इसीलिये कि वे स्मृतिसाध्य हो सकें। फलतः मैंने बिहारी-सतसई से सबसे अधिक सहायता ली है। बात यह है कि 'सतसई' इतनी सरस और लोकप्रिय पुस्तक है कि ऊँची कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः प्रत्येक नवयुवक उसका एक बार पारायण कर चुका रहता है। उसके दोहे यों भी कुछ कम प्रचलित नहीं हैं। इसलिये उन (दोहों) से थोड़ा-बहुत ही सही, पूर्व-परिचय रहता है—उनकी सरसता और अर्थ की सरलता से उन्हें याद करना भी बहुत सुगम होता है। लक्षण-ग्रंथ के रूप में निर्मित नहीं रहने पर भी 'सतसई' के दोहों की आलंकारिक विशेषता और स्पष्टता सर्वमान्य है। इस प्रकार व्रजभाषा के उदाहरणों के लिये बिहारी से अधिक मुझे किसी की कविता नहीं जँची। मैंने कुछ उग्र आदर्शवादियों की तरह साधारण शृंगारिक

पद्यों के प्रति भी 'बायकाट' की भावना नहीं रखी है और मैं ही क्या, कोई भी अलंकार-लेखक नहीं रख सका है। हाँ, उत्तान शृंगार से अवश्य परहेज किया है। भला 'शृंगार'-निरपेक्ष 'अलंकार' भी कोई अलंकार है? उसका तो वास्तविक उपयोग 'शृंगार' ही में है। मानव-जीवन और मानव-प्रकृति के लिये शृंगार बहुत आवश्यक है। उसे देखते ही नाक-भौं नहीं सिकोड़ लेना चाहिये। बात रही असंयत शृंगार की, तो मर्यादा का अतिक्रमण कर जाने पर तो अमृत भी विष हो जाता है।

अलंकार-शास्त्र किसी भी सैद्धान्तिक विषय के जैसा थोड़ा जटिल और शुष्क है। उस जटिलता और शुष्कता को मैंने उदाहरणों की सरलता और सरसता से मिटाने की चेष्टा की है। उदाहरणों के चुनाव में मैंने स्पष्टता पर सबसे अधिक ध्यान रखा है; संदिग्ध उदाहरण भरसक कहीं नहीं मिलेंगे। खड़ी बोली के उदाहरण की पाबंदी निभाने के लिये जहाँ अच्छे मौलिक उदाहरण नहीं मिले वहाँ कहीं तो मैंने संस्कृत-ग्रंथों के पद्यों का पद्यात्मक अनुवाद किया है, कहीं उनकी छाया लेकर उदाहरण की रचना की है और कहीं स्वतंत्र रूप से भी उदाहरण गढ़े हैं। यह काम तो किसी कवि का था पर अकवि होकर भी जो यह अनधिकार-चेष्टा मैंने की है उसके लिये क्षमा माँगने के अतिरिक्त और क्या कहूँ! हाँ, आज के बहुत से स्वयंभू कवियों के वागाडम्बर की अपेक्षा ये तुकबंदियाँ भी अधिक निर्दोष होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। काव्य-प्रतिभा के अभाव में भी काव्यशास्त्रानुशीलन का कुछ महत्त्व तो होता ही है। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ यह आपद्धर्म के रूप में ही मैंने किया है, खामख्वाह अपने अकाव्यत्व का परिचय देने की दृष्टि से नहीं और चूँकि अपनी वस्तु के गुण-दोष का भागी मुझे ही होना चाहिये इसलिये वैसे सारे पद्यों अथवा पद्य-खंडों के सामने मैंने तारक चिह्न (*) लगा दिये हैं। एकाध स्थानों पर किसी के व्रजभाषा के पद्य को भी अपनी आवश्यकता से प्रेरित हो खड़ी बोली में रूपान्तरित किया है। उदाहरण देने में मैंने कृपणता से काम नहीं लिया है। उदाहरणों की

संख्या पर्याप्त है और उनकी संघटना भी अच्छी तरह समझकर लिखी गयी है।

यह तो हुआ उदाहरणों के सम्बन्ध में। अलंकारों के लक्षण मैंने कम-से-कम शब्दों में देने का प्रयास किया है जिससे उन्हें याद करने में सौकर्य हो; भाषा भी, जहाँ तक सम्भव हुआ है, सरल और प्राञ्जल रखी है। मेरा विश्वास है कि परिभाषा के लायक भाषा में जो चुस्ती होनी चाहिए, वह अभी हिन्दी में नहीं है। उसमें बहुत भर्ती के शब्द रखने पड़ते हैं, फिर भी शैथिल्य रह जाता है। संस्कृत इस विषय में आदर्श है। गद्य की तो बात ही छोड़ दीजिये—संस्कृत के पद्यात्मक लक्षण भी (जहाँ अनावश्यक शब्दों का आना अनिवार्य हो जाता है) बहुत ही परिष्कृत और सुघटित होते हैं। रीतिकालीन आचार्यों ने पद्यबद्ध लक्षण लिखकर प्रतिपाद्य विषय की जो छीछालेदर की है वह किसी से छिपी नहीं है। कहीं-कहीं अलंकार का लक्षण तो एक ही चरण में पूरा हो गया है और शेष तीन चरण केवल छन्द का ढाँचा खड़ा करने के लिये भरे गये हैं; शब्दों का तोड़-मरोड़ अलग है। इससे बचने के लिये अलंकारों के लक्षण मैंने गद्य में ही दिये हैं, वह भी परिमित शब्दों में। थोड़ी भी संस्कृत जाननेवाले पाठकों की सुविधा के लिये पाद-टिप्पणी में मैंने उन लक्षणों के संस्कृत-रूपान्तर भी दे दिये हैं जिससे उन्हें कण्ठस्थ करने में सुविधा हो। यह कथन पिष्टपेषणमात्र होगा कि संस्कृत के लक्षण बहुत सरलता से कण्ठस्थ होते हैं। संस्कृत के लक्षणों के चुनाव में भी मैंने यह ध्यान रखा है कि जिस आचार्य का लक्षण सीधा-सादा और सुबोध हो उसे ही दिया जाय। मुझे व्यक्ति-विशेष के लिये आग्रह नहीं रहा है, आग्रह रहा है केवल विशदता और सुगमता के लिये। मैं आशा करता हूँ कि उन लक्षणों से, सबों का नहीं तो कुछ का, अवश्य उपकार होगा।

अन्त में मैंने सभी अलंकारों के पारस्परिक अन्तर का विवेचन एकत्र ही संकलित कर दिया है। यह भी मैंने सुगमता के लिये ही किया

है। यदि कोई चाहे तो पन्द्रह-बीस मिनटों में उन सबों की आवृत्ति कर जा सकता है। यह चीज इस रूप में दूसरी किसी भी अलंकार की पुस्तक में नहीं है।

दो शब्द अलंकारों की संख्या के सम्बन्ध में। इस विषय में संस्कृत-हिन्दी दोनों भाषाओं के आचार्यों में बड़ा मतभेद है। कुछ प्रधान अलंकारों को छोड़कर गौण अलंकारों के निरूपण में सबों के अलग-अलग सिद्धान्त हैं और उनकी संख्या में भी उसी प्रकार अन्तर दिखाई पड़ता है। मैंने अपनी बुद्धि से जिन्हें उचित और आवश्यक समझा है उन्हें इस पुस्तक में स्थान दिया है। हिन्दी के—क्या नवीन क्या प्राचीन—प्रायः सभी आलंकारिकों ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द को ही अपना आदर्श माना है। इस पुस्तक में उससे कुछ थोड़ा अन्तर है। बात यह है कि कुछ आलंकारिकों ने कई अलंकार केवल अपनी मौलिकता दिखाने के लिये लिख डाले हैं पर सूक्ष्मता से विचार करने पर उनका अंतर्भाव दूसरे अलंकारों में आसानी से हो जाता है। ऐसे अलंकारों को मानने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। उदाहरणार्थ परिणाम अलंकार को ही लीजिये। एक तो इसके लक्षण को ही लेकर आचार्यों में काफी मतभेद है; प्रायः उनके विरोधी दृष्टिकोण हैं। दूसरी बात यह कि परिणाम अलंकार-ग्रन्थों में ही देखा जाता है, लक्ष्य में उसकी संगति विरले ही कहीं मिलती हो। तीसरी बात यह कि रूपक से उसका विषय-भेद दिखाना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से मम्मट ने उसे नहीं लिखा। इसी प्रकार 'विकस्वर' का अर्थान्तरन्यास या उदाहरण से, 'प्रौढ़ोक्ति' का सम्बन्धातिशयोक्ति से, 'ललित' का निदर्शना और पर्यायोक्ति से, 'उल्लास' का विषम या काव्यलिंग से, 'अवज्ञा' का विशेषोक्ति से पृथक्करण बड़ा कठिन है। वैसे ही 'अत्युक्ति' की अतिशयोक्ति से अलग स्थिति नहीं। फिर कुछ ध्वनि-काव्य के विषय भी विवेचन-शीलता की कमी के कारण अलंकारों की श्रेणी में डाल दिये गये

हैं, जैसे 'गूढ़ोक्ति'। इस भाँति स्पष्ट है कि अलंकारों की उत्तर-कालीन संख्या-वृद्धि सर्वथा मान्य ही नहीं है। मैंने यहाँ केवल उन्हीं अलंकारों को रखा है जो वस्तुतः अलंकार हैं और जिनसे भरसक किसी का मतभेद नहीं है। मेरी चेष्टा रही है कि कुछ भी अपेक्षित छूटे नहीं और अनपेक्षित आवे नहीं।

आधुनिक साहित्य में कुछ प्रसाधनों का बहुत प्रयोग होता है। वे हैं मानवीकरण (Personification), विशेषण-विपर्यय (Transferred epithet) और ध्वन्यर्थचित्रण (Onomato-poeia)। ये वस्तुतः अलंकार ही कहलायेंगे अतः एक बार मेरे मन में आया कि इन्हें भी अलंकारों के निरूपण में स्थान दूँ। पर मानना होगा कि अलंकार-युग समाप्त हो गया है (भले ही अलंकारों या तत्स्थानीय प्रसाधनों की उपयोगिता समाप्त न हुई हो और जब तक कविता नाम की वस्तु है तब तक वह समाप्त भी नहीं होगी, यह असन्दिग्ध है)। इसलिये आज के परिवर्तित वातावरण में इन्हें अलंकार के नाम से पुकारना आवश्यक नहीं दीखता।

अलंकार पर प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टियों का समन्वय करते हुए एक विशद विवेचन लिखने का भी मेरा विचार था, पर समयाभाव के कारण इसे अभी न कर सका। अब तो भविष्य का ही भरोसा है।

किसी-किसी अलंकार-ग्रन्थ में लिखी गयी कुछ बातों से मैंने अपना मतभेद पाया, अतः उनके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने की भावना कई बार मन में उत्पन्न हुई। पर फिर सोचा कि उससे ग्रन्थ-गौरव ही सिद्ध होगा और वाद-विवाद के पचड़े में पड़ने से विद्यार्थियों को प्रस्तुत विषय के अनुशीलन में कठिनाई होगी, इस कारण वह विचार भी छोड़ दिया। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार जिसने जो लिखा वह अपने स्थान पर ठीक है। आलोचना - प्रत्यालोचना से यहाँ कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

इस पुस्तक के लिखने में जिन ग्रन्थों से सहायता मिली है उनकी सूची अन्यत्र दी हुई है। उनके लेखकों के प्रति मैं सादर कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। दूसरे ग्रन्थों के कुछ उदाहरण भी, जो मुझे अधिक स्पष्ट या सुन्दर जँचे, मैंने लिये हैं पर उन ग्रन्थों का नामनिर्देश सर्वत्र नहीं कर सका हूँ। पहले तो इस पर ध्यान नहीं दिया और जब दिया तो पुस्तक बहुत कुछ छप गयी थी। ऐसे उदाहरणों की संख्या कम है, फिर भी है। अधिकतर उदाहरण मेरे अपने ढूँढे हुए हैं और खड़ी बोली के उदाहरणों के ढूँढ़ने में तो शायद मेरे ऊपर किसी का ऋण नहीं है।

जब विश्व की कोई भी वस्तु निर्दोष नहीं है तो मेरी यह तुच्छ कृति निर्दोष होगी, यह कल्पना ही हास्यास्पद है। दोष तो इसमें होंगे ही पर अपने दोष अपने आपको नहीं दीखते। सहृदय आलोचकों की सम्मति उन्हें दूर करने में समर्थ होगी, ऐसी मेरी आशा है।

जिन लोगों ने इस पुस्तक के लिखने में मुझे प्रोत्साहित किया उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं श्रद्धेय डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्रो० विश्वनाथ प्रसाद, आचार्य कपिलदेव शर्मा और भाई नलिन-विलोचनजी। श्री ब्रह्मचारीजी के विषय में क्या कहूँ? उन्होंने तो सदा मुझे राह दिखाई है और आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। इस पुस्तक को देखकर आदरणीय डा० जनार्दन मिश्र, प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा, प्रियबन्धु नवल किशोरजी और प्रियवर वेणीमाधवजी ने संतोष प्रकट किया। इन महानुभावों का मेरे ऊपर जो आभार है, उसका, धन्यवाद जैसी हलकी वस्तु से, कभी प्रतिदान हो सकता है?

प्रियवर श्री रामदेव त्रिपाठी, बी० ए० (ऑनर्स), व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न को इस पुस्तक के लिखने में जितना मैंने तंग किया उतना किसी को नहीं। इसकी पाण्डुलिपि को दुहराने और छपने में उन्होंने मेरी पर्याप्त सहायता की है। मैं इतना निस्संकोच

भाव से कह सकता हूँ कि उन्होंने जितना समय दिया, उतना यदि न दिया होता तो इसमें हर तरह की भूलें प्रचुर परिमाण में रह गयी होतीं पर उनसे जो मेरा सम्बन्ध है वह इससे कहीं अधिक का अधिकारी है। श्रीमती शर्मा और प्रियवर शैलेन्द्र जी ने इस कार्य में जितनी मेरी सहायता की उसकी तो चर्चा ही व्यर्थ है क्योंकि यह तो उनकी अपनी चीज थी।

इस पुस्तक को बी० ए० (ऑनर्स) के पाठ्य-क्रम में स्थान देकर पटना विश्व-विद्यालय ने इसे गौरवान्वित किया है। इसके लिये मैं विश्व-विद्यालय की हिन्दी बोर्ड आफ स्टडीज के सदस्यों का हृदय से अनुगृहीत हूँ।

पटना
वैशाखी पूर्णिमा, सं० २००५

देवेन्द्रनाथ शर्मा

सहायक ग्रंथों की नामावली

संस्कृत

१. अग्निपुराण ।
२. अलंकारसर्वस्व—रुय्यक और मंखुक
३. अलंकारशेखर—केशव मिश्र
४. काव्य-प्रकाश—मम्मट भट्ट (उद्योत, प्रदीप और बालबोधिनी व्याख्या)
५. काव्यादर्श—दण्डी
६. काव्यालंकार—भामह
७. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन
८. कुवलयानंद—अप्पय दीक्षित
९. चंद्रालोक—जयदेव
१०. ध्वन्यालोक—आनंदवर्द्धनाचार्य
११. नाट्यशास्त्र—भरत मुनि
१२. रसगङ्गाधर—पंडितराज जगन्नाथ
१३. साहित्य-दर्पण—कविराज विश्वनाथ

हिन्दी

१. अलंकार-पीयूष—डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'
२. अलंकार-मंजूषा—लाला भगवान दीन
३. अलंकार-कौमुदी—परमेश्वरानन्द शास्त्री
४. काव्य-कल्पद्रुम—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
५. भारती-भूषण—सेठ अर्जुनदास केडिया

विषय-सूची

अलङ्कार-मुक्तावली

अलङ्कार

शब्द और अर्थ की शोभा को बढ़ानेवाले बाह्य धर्म को अलङ्कार कहते हैं।[†]

अलङ्कार का अर्थ सुप्रसिद्ध है आभूषण या गहना। जिस प्रकार सुवर्ण आदि के आभूषणों से शरीर की शोभा बढ़ती है उसी प्रकार जिन उपकरणों से काव्य की सुन्दरता में चमत्कार या उत्कृष्टता आती है उन्हें (उसी सादृश्य से) अलङ्कार कहते हैं।

वस्तुत: शब्द और अर्थ को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् कर रखना संभव नहीं है क्योंकि वे परस्पर अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हैं। यदि शब्द है तो उसका कुछ अर्थ अवश्य होगा; वैसे ही

† काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।—दण्डी

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥—मम्मट

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥—विश्वनाथ

अर्थ की सत्ता शब्द के बिना नहीं हो सकती। (निरर्थक शब्दों से काव्य का कोई प्रयोजन नहीं अतः उसकी शंका का अवकाश नहीं है)। जिस प्रकार प्राणहीन शरीर निष्प्रयोजन तथा शरीर-वियुक्त प्राण अगोचर या अग्राह्य है, उसी प्रकार अर्थहीन शब्द अनुपादेय अथवा अव्यवहार्य और शब्दरहित अर्थ अप्रत्येय या अज्ञेय है। जैसे स्थूल (मूर्त्त) शरीर से ही सूक्ष्म (अमूर्त्त) प्राण का अनुभव होता है वैसे ही अमूर्त्त भाव या अर्थ को अनुभवगम्य बनाने के लिये मूर्त्त शब्द का आश्रय लेना अनिवार्य है। अर्थ को शब्द का प्राण और शब्द को अर्थ का शरीर कह सकते हैं।

तो शब्द ही वह माध्यम है जिसके द्वारा अर्थ या भाव की प्रतीति की या करायी जा सकती है। इस तरह हैं तो दोनों अविच्छेद्य फिर भी 'गिरा-अर्थ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। उनके अभिन्न होने पर भी भिन्नतया प्रयोग होता है; 'यह शब्द ठीक नहीं', 'यह अर्थ गलत है' आदि। ऐसे स्थलों पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—प्रधानता से नाम दिये जाते हैं—इस नीति के अनुसार उनका पृथक्-पृथक् व्यवहार होता है। इसी को अन्वय-व्यतिरेक भी कहते हैं—किसी के रहने पर कोई रहे यह अन्वय और किसी के न रहने पर कोई नहीं रहे यह व्यतिरेक है।† जहाँ शब्द ही के ऊपर अलङ्कार की निर्भरता है वहाँ उसी की प्रधानता मानी जायगी; इसलिये उसे शब्दालङ्कार कहेंगे अर्थात् यदि उस शब्दविशेष को परिवर्त्तित कर दें तो अर्थ वही रहने पर भी वह अलङ्कार नहीं हो सकेगा। जैसे 'बंदउं गुरु-पद-पदुम-परागा' को यदि 'बंदउं गुरु-पद-कमल-परागा'

---

† तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः, तदसत्त्वे तदसत्वं व्यतिरेकः।

कर दें तो अर्थ ज्यों का त्यों रहने पर भी कमल के पर्याय 'पदुम' के रहने से पहले पाठ में 'पद' के सान्निध्य से जो छेकानुप्रास निष्पन्न होता था वह दूसरे पाठ में नष्ट हो जाता है। इसलिये छेकानुप्रास—जो शब्दालङ्कार है—के निवाह में 'पदुम' शब्द की स्थिति अनिवार्य है—कमल के दूसरे पर्याय से काम नहीं चलेगा। अर्थ वही रहने पर भी शब्दभेद से जो अलङ्कार बिगड़ जाता है उसे शब्दालङ्कार कहेंगे। वैसे ही जहाँ शब्द का कोई प्रधानता नहीं, अलङ्कार केवल अर्थाश्रित हो अर्थात् शब्द-परिवर्त्तन कर देने पर भी जहाँ अर्थ अपरिवर्त्तित रहे वहाँ अर्थालङ्कार होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में ही 'पद-पदुम' में रूपक अलङ्कार है; यदि 'पदुम' के बदले हम कमल शब्द भी रख दें तो 'पद-कमल' में रूपक अव्याहत रहता है—उसमें कोई अंतर नहीं आता क्योंकि अर्थ तो पदुम और कमल दोनों का एक ही है। यहाँ अलङ्कार अर्थ के अधीन है इसलिये रूपक को अर्थालङ्कार कहेंगे। कहीं अलङ्कार की स्थिति शब्द और अर्थ दोनों पर अवलम्बित रहती है—वहाँ किसी एक का भी परिवर्त्तन कर देने से अलङ्कारता नष्ट हो जाती है अतः उसे उभयालङ्कार या शब्दार्थालङ्कार कहते हैं। इस तरह जो कुछ कहा जा चुका है उसके अनुसार अलङ्कार के तीन भेद हुए।

(१) शब्दालङ्कार—जहाँ शब्दगत अलङ्कार हो।

(२) अर्थालङ्कार—जहाँ अर्थगत अलङ्कार हो।

(३) शब्दार्थालङ्कार या उभयालङ्कार—जहाँ शब्दार्थ—उभयगत अलङ्कार हो।

इनमें उभयालङ्कारों की संख्या अत्यंत परिमित, शब्दालङ्कारों की उससे अधिक और अर्थालङ्कारों को सबसे अधिक है।

शब्दालंकार

छेकानुप्रास

अनेक व्यंजनों की एक बार स्वरूप और क्रम से आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं ।†

छेक का अर्थ है विदग्ध या चतुर और उन्हें यह अलङ्कार प्रिय है अतः इसे छेकानुप्रास कहते हैं ।

छेकानुप्रास में वर्णों की आवृत्ति स्वरूपतः तथा क्रमतः—उभयथा होनी चाहिये जैसे 'कमल कोमल'। यहाँ यदि स्वरों को छाँट दें (अनुप्रास में स्वरों की गणना नहीं होती क्योंकि उनमें कोई चमत्कार नहीं रहता) तो कमल में क म ल और कोमल में भी क म ल बच रहता है। इन दोनों क म ल का स्वरूप और क्रम एक ही है, आवृत्ति भी एक ही बार हुई है, इसलिये यहाँ छेकानुप्रास मानेंगे। इसके विपरीत यदि 'कमल' और 'कलम' रखें तो छेक नहीं होगा कारण कि यहाँ क्रमशः आवृत्ति नहीं है—कमल में क के बाद म और म के बाद ल है पर कलम में क के बाद ल तब म है; अतः यहाँ क्रमभंग हो जाता है। ऐसे ही 'कोमल कपोल' में भी यह अनुप्रास संभव नहीं क्यों कि यद्यपि इन दोनों में क ल में क्रम तो है—कोमल में भी क के बाद ल, और कपोल में भी क के बाद ल—पर स्वरूप में भेद है, एक में क म ल तथा दूसरे में क प ल शेष रहता है। बीच के म और प में स्वरूपैक्य नहीं। फिर यदि 'कमल कोमल कमला' पाठ रहे तो भी छेकानुप्रास नहीं होगा, कारण परिभाषा के अनुसार अनेक व्यंजनों की एक ही बार आवृत्ति

† छेको व्यंजनसङ्घस्य सकृत् साम्यमनेकधा । सा० द०

होनी चाहिये; यहाँ स्वरूप और क्रम ठीक रहने पर भी दो बार आवृत्ति होती है जो लक्षणविरुद्ध है। निष्कर्ष यह कि छेकानुप्रास के लिये अनेक व्यंजनों की स्वरूपतः, क्रमतः और एक ही बार आवृत्ति का होना अनिवार्य है।

वंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥

यहाँ अनेक व्यंजनों—पद-पदुम में प द और सुरुचि सरस में स र—की स्वरूपतः और क्रमतः एक बार आवृत्ति है।

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सोहाई॥

यहाँ पारस परस में छेकानुप्रास है।

विस्मृति का नील नलिन रस बरसो अपाङ्ग के घन से। प्रसाद

यहाँ नील नलिन में न ल की और रस बरसो में र स की एक बार आवृत्ति रहने से छेक है।

बाल बेलि सूखी सुखद इहि रूखे रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिये सुरस सींचि घनश्याम॥

यहाँ बाल, बेलि में ब ल की, सुखी-सुखद में स ख की और रूखे रुख में र ख की एक बार स्वरूप और क्रमसे आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

छेकानुप्रास के लक्षण को लेकर हिंदी के आलङ्कारिकों में काफी भ्रम फैला हुआ है। जहां संस्कृत के आचार्यों ने अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास माना है वहाँ इन लोगों ने एक या अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति में। यह स्वच्छन्दता-मात्र है। इसका आरंभ रीतिकाल में किसी ने किया और तबसे हिंदीवाले आलंकारिक आँखें बन्द कर उसका अनुसरण करते

रहे हैं। संस्कृत में रूय्यक† से लेकर विश्वनाथ तक किसी भी आचार्य ने एक वर्ण की आवृत्ति में छेकानुप्रास का उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार सारी परम्परा अनेक वर्णों की आवृत्ति के पक्ष में है। रीतिकाल में आलोचना की गंभीरता तो थी नहीं। किसीने बिना समझे-बूझे जो एक वर्ण की आवृत्ति को भी छेक के लक्षण में घुसा दिया तो फिर क्या था 'अन्धे देश में काना राजा', लगा उसका अनुसरण किया जाने और आज तक किया जा रहा है। मैंने यहाँ संस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षण का ही उल्लेख किया है।

मेरे जानते छेकानुप्रास को पृथक् मानने की आवश्यकता भी नहीं है वृत्त्यनुप्रास का विषय इतना व्यापक है कि इसका उसी में अंतर्भाव किया जा सकता था। इस पर वृत्त्यनुप्रास के प्रकरण में मैंने अधिक स्पष्टता के साथ अपना विचार व्यक्त किया है।

वृत्त्यनुप्रास

यदि एक व्यंजन की एक बार या अनेक बार, अनेक व्यंजनों की एक बार या अनेक बार स्वरूपतः, अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार स्वरूपतः-क्रमतः आवृत्ति हो तो वृत्त्यनुप्रास होता है।

---

† संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः। अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः।—रूय्यक
संख्यानियम का स्पष्टी-करण करते हैं—द्वयोर्व्यञ्जनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः। पूर्वं व्यञ्जनमात्राश्रितम्।
सोऽनेकस्य सकृत् पूर्वः।—मम्मट
छेको व्यंजनसंघस्य सकृत् साम्यमनेकधा।—विश्वनाथ

रसानुकूल वर्ण-विन्यास को वृत्ति कहते हैं। भिन्न-भिन्न रसों में तत्तदनुरूप वर्णों के प्रयोग का निर्देश है जैसे शृंगार में मधुर, वीर में परुष अर्थात् कठोर आदि। इस प्रकार के वर्णों के प्रयोग से तत्तत् रस की व्यंजना में बड़ी सहायता मिलती है। इस तरह वृत्त्यनुप्रास का अर्थ है—वृत्ति के अनुकूल (अनु+) प्रकृष्ट (प्र+) वर्ण-विन्यास (आस)—वृत्ति + अनु + प्र + आस = वृत्त्यनुप्रास। बहुत से लोग—विद्यार्थी तो विद्यार्थी हैं, कितने विद्वान् भी—प्राय: 'वृत्त्यानुप्रास' शब्द का प्रयोग करते हैं जो सर्वथा अशुद्ध और प्रयोक्ता की जड़ता का परिचायक है। इसी प्रमाद को दूर करने के लिये ऊपर 'वृत्त्यनुप्रास' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाल दिया गया है।

ऊपर की परिभाषा को निम्नलिखित रूप से और भी स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) एक व्यंजन की एक बार आवृत्ति।

(२) एक व्यंजन की अनेक बार आवृत्ति।

(३) अनेक व्यंजनों की एक बार आवृत्ति स्वरूपत: (छेकानुप्रास में स्वरूपत: और क्रमत: आवृत्ति होती है)।

(४) अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति स्वरूपत: (छेकानुप्रास में एक ही बार और क्रमत: भी आवृत्ति होती है)।

(५) अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति स्वरूपत:—क्रमत: (छेकानुप्रास में एक ही बार और क्रमत: भी आवृत्ति होती है)।

(१) एक व्यंजन की एक बार आवृत्ति।

उघरहिं बिमल बिलोचन हीके। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥

यहाँ ब की एक बार और द की एक बार आवृत्ति है।

(२) एक व्यंजन की अनेक बार आवृत्ति :—

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥

एक स की अनेक बार आवृत्ति है।

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू॥

यहाँ पहले चरण में स की और दूसरे चरण में ज की अनेक बार आवृत्ति है।

(३) अनेक व्यंजनों की एक बार स्वरूपत: आवृत्ति :—

रस सरिता कब बक अवगाहहिं।

यहाँ 'रस सर' और 'कब बक' में केवल स्वरूपतः अनेक वर्णों की एकबार आवृत्ति है।

विधिनिषेधमय कलिमल हरनी। करमकथा रबिनंदिनि बरनी॥

यहाँ र ब की स्वरूपत: एक बार आवृत्ति है।

(४) अनेक व्यंजनों की अनेक बार स्वरूपत: आवृत्ति :—

उस प्रमदा के अलकदाम से मादक सुरभि निकलती।

मद, दम, मद में अनेक व्यंजनों की अनेक बार केवल स्वरूपतः आवृत्ति है।

(५) अनेक व्यंजनों की अनेक बार स्वरूपत: तथा क्रमत: आवृत्ति:—

विराजमाना बन एक ओर थी कलामयी केलिवती कलिन्दजा।

या

कहीं सुनाती निज कंत साथ थी स्व-काकली को कलकंठ कोकिला।

प्रि० प्र०

पहली पंक्ति में क ल की और दूसरी में क क ल की अनेक बार आवृत्ति है।

वृत्त्यनुप्रास के भेदों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब इतने भेदों को एक इसी अलंकार के भीतर रखा जा सकता है तब "अनेक व्यंजनों की एक बार स्वरूपतः-क्रमतः आवृत्ति" को छेकानुप्रास के नाम से अलग रखना अधिक समीचीन नहीं जान पड़ता। छेक की रचना भी रसानुकूल ही होती है अतः वृत्तित्व तो उसके अंदर भी है। यदि यह कहा जाय कि छेक का वर्ण-विन्यास छेकों (चतुरों) को अधिक आनंदप्रद होता है तो वृत्त्यनुप्रास का विषय तो उससे भी रमणीयतर है; वह तो और भी आनंदप्रद होना चाहिये। इसलिये एक ही प्रकार के वर्णविन्यास में दो अलंकारों की कल्पना से केवल गतानुगतिकता ही प्रतीत होती है। ऐसे ही तर्क के आधार पर पंडितराज जगन्नाथ ने अर्थालङ्कारों में दीपक की पृथक्, स्वतंत्र स्थिति न मानकर उसे तुल्ययोगिता के भेदों में ही अंतर्भूत कर रखा है जो अधिक बुद्धि-संगत है। लाटानुप्रास और यमक के विषय में यही शङ्का नहीं कर सकते क्योंकि उनका क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है।

लाटानुप्रास

तात्पर्यमात्र के भेद से शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति को लाटानुप्रास कहते हैं। †

'लाट' आधुनिक गुजरात का प्राचीन नाम है। संभवतः वहीं इस अलङ्कार की सर्वप्रथम उद्भावना हुई या वहाँ के

---

† शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः, लाटानुप्रास इत्युक्तः। सा० द०

लोगों को यह बहुत प्रिय था इसीलिये इसका नाम लाटानुप्रास पड़ा है।

शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति में तात्पर्यभेद कैसे होता है यह अधोलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। कोई किसी व्यक्ति से पूछता है कि "लड़का कैसा है" और वह उत्तर देता है कि "लड़का तो लड़का ही है"; यहाँ 'लड़का' शब्द ही की नहीं उसके अर्थ की भी आवृत्ति हुई है, पर दोनों के अर्थ में तात्पर्य-भेद यह है कि प्रथम लड़का शब्द लड़के के सामान्य अर्थ को प्रकट करता है पर दूसरा 'लड़का' शब्द उसकी रूप-बुद्धि-शीलादिगुणविशिष्टता को व्यक्त करनेवाला है। जब किसी अच्छी या उत्तम वस्तु को हम देखते हैं तो प्राय: इस प्रकार का पुनरुक्ति की शरण लेते हैं। इससे हमारा वक्तव्य बड़ी सरलता और स्पष्टता से अभिव्यक्त हो जाता है। किसी अच्छे घर को देखकर "घर घर ही है", सुस्वादु आम चख कर "आम आम ही है", गदहे की मूर्खता से खीझ कर "गदहा आखिर गदहा ही है" आदि अनंत वाक्य प्रतिदिन हमारे व्यवहार में आते हैं। इन सभी वाक्यों में शब्द-अर्थ दोनों की आवृत्ति पायी जाती है पर पहले शब्द का केवल सामान्य अर्थ और दूसरे का कुछ विशिष्टता-समन्वित रहा करता है। इस प्रकार की आवृत्ति में जिस अंतर को स्पष्ट करना हमारा उद्देश्य रहता है उसी को 'तात्पर्यभेद' नाम से पुकारते हैं।

तात्पर्य का यह सीमित अर्थ सर्वत्र नहीं लेना चाहिये; वैसा करने से कई स्थलों पर अव्याप्ति हो जायगी—कितने उदाहरण इस अलङ्कार के अंदर नहीं आ सकेंगे। इसलिये अन्वय को भी तात्पर्य के अंतर्गत ही समझना चाहिये। यह पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकार का पाया जाता है।

पदगत—

पङ्कज तो पङ्कज, मृगाङ्क भी है मृगाङ्क, री प्यारी !
मिली न तेरे मुख की उपमा, देखी वसुधा सारी ! ॐ

यहाँ 'पङ्कज' की आवृत्ति है—पहले पङ्कज शब्द का साधारण अर्थ कमल है और दूसरे पङ्कज का कीचड़ आदि जसे गर्हित-असुन्दर स्थल से उत्पन्न, अतः विशेषताहीन कमल। वैसे ही प्रथम मृगाङ्क का साधारण अर्थ केवल चंद्रमा है और दूसरे मृगाङ्क का कलङ्कादियुक्त चंद्रमा। इस प्रकार शब्द तथा अर्थ की पुनिरुक्ति होने पर भी दोनों के तात्पर्य में भिन्नता के कारण यह लाटानुप्रास है।

वाक्यगत—

तीरथ-व्रत-साधन कहा, जो निसदिन हरिगान।
तीरथ-व्रत-साधन कहा, बिन निसदिन हरिगान॥

यहाँ पूर्वार्द्ध का अन्वय 'जो' के साथ और उत्तरार्द्ध का 'बिन' के साथ है। पूर्वार्द्ध का अर्थ का हुआ—"यदि रात दिन भगवद्भजन होता है तो तीर्थ-व्रतादि की साधना से क्या ?" और उत्तरार्द्ध का "बिना रात-दिन भगवद्भजन किये केवल तीर्थ व्रतादि की साधना से क्या ?" इस भाँति शब्द और अर्थ एक होने पर भी अन्वय-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है।

उठ री ! विकसित-कुवलय-नयने ! नयन निमीलित खोल।
विजित-मदन मदनातुर प्रियतम पास खड़ा कुछ बोल॥ॐ

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'नयन नयन' की और उत्तरार्द्ध में 'मदन मदन' की आवृत्ति है। पर पहला नयन अन्यत्र अन्वित होकर संबोधन के रूप में है और दूसरा नयन कर्म के रूप में पृथक् उपन्यस्त है। वैसे ही उत्तरार्द्ध में पहला मदन विजित के साथ

और दूसरा आतुर के साथ अन्वित है। इस तरह एक ही शब्द के अन्वय-भेद से तात्पर्य में भेद आ जाता है।

स-धरम अर्जित अर्थ की रक्षा करिय किमर्थ ?
अ-धरम अर्जित अर्थ की रक्षा करिय किमर्थ ?

यहाँ भी पूर्वार्द्ध का 'स' के साथ और उत्तरार्द्ध का 'अ' के साथ अन्वय करने से अर्थ बदल जाता है—तात्पर्य भिन्न हो जाता है।

× × ×

एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले अनेक वर्णों के प्रयोग में श्रुत्यनुप्रास नामक एक अनुप्रासभेद की एकाध आलङ्कारिकों ने जो कल्पना की है उसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं रहता, इसलिये यहाँ उसकी चर्चा नहीं की गयी है।

अन्त्यानुप्रास (तुक) संस्कृत के लिए—जिसमें तुक का एकदम अभाव है—भले ही अधिक अभ्यर्हित रहा हो पर हिन्दी के लिये वह इतना साधारण और स्वाभाविक है कि उसका परिचय देना अनावश्यक है। हिन्दी में तो अतुकान्त ही कविता में अजनबीपन दीखता है।

यमक

सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वरव्यंजनसमुदाय की क्रमशः आवृत्ति को यमक कहते हैं। †

'यमक' शब्द का अर्थ है 'दो'। इसलिये इस अलङ्कार में एक ही आकारवाले वर्ण-समूह का कम से कम दो बार श्रवण

---

† सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिः यमकं विनिगद्यते ॥ सा० द०

आवश्यक है। अधिक के लिये कोई संख्या निर्धारित नहीं— कितनी बार भी आवृत्ति हो सकती है।

वस्तुतः इसे अनुप्रास का ही एक भेद समझना चाहिये पर जहाँ अनुप्रास के अन्य भेदों में स्वरों की गणना नहीं होती, वहाँ इसमें स्वरों की भी प्रधानता रहती है।

यमक में अर्थ का विचार प्रधान नहीं रहता—इसमें कवि का ध्यान रहता है एक विशेष ढंग से वर्णों के विन्यास पर जिससे उनकी आवृत्ति-सी प्रतीत हो। अतः यमक का चमत्कार शब्दाश्रित है, अर्थाश्रित नहीं। इसीलिये यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे वर्ण सार्थक ही हों। वे सार्थक और निरर्थक दोनों ही हो सकते हैं। यदि वे निरर्थक हुए तब तो कुछ बखेड़ा ही नहीं खड़ा होता; यदि उनमें एक सार्थक, दूसरा निरर्थक रहा तब भी ठीक है पर यदि दोनों ही सार्थक हुए तो वैसी दशा में अर्थ के संबंध में कुछ नियम चाहिये। इसी बात के निर्णय के लिये लक्षण में "सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले" यह विशेषण दिया गया है। यदि यमक के दोनों अंगों में सार्थकता हो तो दोनों को भिन्नार्थ—अलग-अलग अर्थवाला होना चाहिये।

लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ दोनों एक रहते हैं, यमक में केवल शब्दों में ही समानता रहती है, अर्थों का सर्वथा भिन्न रहना आवश्यक है।

बिहारी का यह दोहा उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है—

बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैन॥
हरिनी के नैनान तें हरि नीके ये नैन॥

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध उभयत्र यमक की स्थिति है— पूर्वार्द्ध के 'मैन' 'मैन' और उतरार्द्ध के 'हरिनी के' 'हरि नीके' इन

दोनों जगहों में ऐसा मालूम होता है जैसे शब्द केवल दुहरा दिया गया हो, पर वस्तुतः उसे दुहराया नहीं गया है—भिन्न-भिन्न शब्दों को इस प्रकार निपुणता से विन्यस्त किया गया है कि वे एक से दीखते हैं। 'मैन' का अर्थ है मदन-काम और दूसरे 'मैन' का अर्थ है मैं न अर्थात् मैंने नहीं (देखे)। इसी तरह उत्तरार्द्ध में पहले 'हरिनी' का अर्थ है हरिनी (मृगी) के और दूसरे 'हरिनीके' का अर्थ है हरि ! (कृष्ण का सम्बोधन) नीके (अच्छे), तो सारे उत्तरार्द्ध का अर्थ हुआ कि 'हे हरि ! ये नैन हरिनी (मृगी) के नैनों से भी अच्छे हैं।' अतः लक्षण की संघटना ऐसी है कि 'मैन' 'मैन' तथा 'हरिनीके' 'हरिनीके' दोनों में स्वरव्यंजनसमूह की क्रमशः आवृत्ति है और सभी सार्थक हैं पर सबके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है। इस उदाहरण में केवल सार्थक वर्णों का सन्निवेश है।

किसी सोच में हो विभोर साँसें कुछ ठंढी खींचीं।
फिर झट गुल कर दिया दिया को दोनों आँखें मींचीं॥ नूर०

यहाँ दिया दिया में यमक है—एक दिया क्रिया है और दूसरा दिया दीपक का वाचक।

अपूर्व थी श्यामल पत्रराशि में कदम्ब के पुष्प-कदम्ब की छटा। प्रि०प्र०

पहले कदम्ब का अर्थ वृक्षविशेष और दूसरे का समूह है इसलिये यमक है।

नख रेखा सोहैं नई, अरसौहैं सब गात।
सौहैं होत न नैन ये, तुम सौहैं कत खात॥

यहाँ पहले 'सौहैं' का शोभना, दूसरा 'सौहैं' जो अरसौहैं का खंड है, निरर्थक, तीसरे 'सौहैं' का सामने और चौथे 'सौहैं'

का शपथ अर्थ है। इस प्रकार स्वरूप में अभेद रहने पर भी अर्थभेद स्पष्ट है। यहाँ सार्थक तथा निरर्थक दोनों का योग है।

दोनों की निरर्थकता का उदाहरण—

सुमन चारु यही न अशोक के सुमन चाप प्रदीपक हैं नये।

यहाँ दोनों जगह 'सुमनचा' 'सुमनचा' में यमक है पर दोनों ही दो शब्दों के खण्डमात्र से निष्पन्न होते हैं अतः दोनों निरर्थक है।

यमक की स्थिति के अनुसार उसके अनेक उपभेदों की कल्पना की गयी है जैसे कहीं आरंभ में, कहीं मध्य में, कहीं अंत में; कहीं प्रथम चरण की आवृत्ति दूसरे चरण में, कहीं तीसरे में, कहीं चौथे में, कहीं सब में; फिर दूसरे की तीसरे या चौथे में; कहीं तीसरे की चौथे में; कहीं सारे पूर्वार्द्ध की उत्तरार्द्ध में, आदि आदि। और इन उपभेदों को भिन्न-भिन्न नाम भी दिये गये हैं जैसे मुख, संदंश, आवृत्ति, गर्भ, संदष्टक, पुच्छ आदि। इसे मैं केवल बाल की खाल निकालना—व्यर्थ का वितंडा समझता हूँ। यह बेकार की बेगारी है। यदि इस प्रकार किसी अलंकार के भेद-उपभेद किये जायँ तो उनकी संख्या अनंत हो जायगी और बुद्धि को चक्कर में डालने के अतिरिक्त उनसे दूसरा कोई कार्य नहीं सधेगा। तात्पर्य वस्तुतः यमक से होना चाहिये, वे आरंभ में हों या अंत में, ऊपर या नीचे, आगे या पीछे। ये बातें नगण्य हैं। इसलिये जानबूझ कर मैंने उन्हें यहाँ छोड़ दिया है।

श्लेष

श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थों का कथन श्लेष अलंकार कहलाता है।†

---

† श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। सा० द०

श्लिष्ट श्लिष् धातु से निष्पन्न विशेषण है जिसका अर्थ है मिला हुआ, सटा हुआ या चिपका हुआ ; इसलिये श्लिष्ट शब्द का अर्थ हुआ ऐसा शब्द जिसमें (अनेक अर्थ) मिले हुए या चिपके हुए हों।

शब्द दो प्रकार के हैं—एकार्थवाची और अनेकार्थवाची। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका एक ही अर्थ होता है जैसे घड़ा, पुस्तक आदि। ऐसे शब्दों के दो अर्थ नहीं होते इसीलिये इन्हें एकार्थवाची या अश्लिष्ट कहते हैं। दूसरी श्रेणी में वे शब्द आते हैं जिनके अनेक अर्थ हैं—जेसे सूर के सूर्य और अन्धा ; पयोधर के मेघ और स्तन ; हरि के विष्णु, सूर्य, सिंह, बन्दर, मेढ़क आदि। ऐसे शब्दों को अनेकार्थवाची या श्लिष्ट कहते हैं क्योंकि एक ही शब्द में अनेक अर्थ चिपके रहते हैं। तो श्लेष अलङ्कार में प्रयोग होता है एक ही शब्द का पर प्रसङ्ग के अनुकूल उसके अनेक अर्थ लिये जाते हैं।

इस श्लेष के दो भेद हैं:—अभङ्ग और सभङ्ग। अभङ्ग उसे कहते हैं जिसमें बिना भंग (टुकड़े) के अनेक अर्थ हो जायँ। ऊपर के हरि, पयोधर, सूर आदि शब्द अभङ्ग श्लेष के उदाहरण हैं क्योंकि उन्हें बिना तोड़े हम भिन्न-भिन्न अर्थ निकालते हैं। सभङ्ग में, जैसा नामसे ही स्पष्ट है, शब्दों को तोड़ मरोड़कर अनेक अर्थ प्राप्त किये जाते हैं। जैसे कोई राम कृष्ण दोनों की प्रशंसा 'पूतनामारण में अतिधीर' इस एक ही विशेषण से करे तो दोनों के लिये उसे तोड़ कर दो अर्थ करने होंगे—

पूतनामा (पवित्र नाम वाले) और रण में अतिधीर (युद्ध में धैर्यवान्)—राम

पूतना-मारण (पूतना नाम की राक्षसी के मारने) में अतिधीर—कृष्ण।

तो यहाँ प्रकरण के अनुसार 'पूतनामारण' इस शब्द के 'पूतनामा रण' और 'पूतना-मारण' इन दो प्रकारों से टुकड़े कर उसके दो अर्थ किये जाते हैं इसलिये यह सभंग श्लेष का उदाहरण है।

वस्तुतः श्लेष अलङ्कार और उसमें भी सभङ्ग की जो चमत्कारिता और चारुता संस्कृत भाषा में दीखती है वह हिन्दी में नहीं, कारण कि इसके अनुकूल भाषा में जैसा लचीलापन और अनेकार्थप्रदान की क्षमता होनी चाहिये वह संस्कृत को छोड़ संसार की किसी दूसरी भाषा में नहीं है। संधि-समास-विभक्ति आदि की जो सुविधायें संस्कृत को प्राप्त हैं वे किसी दूसरी भाषा को नहीं। इसलिये अर्थ-सौन्दर्य के साथ श्लेष का निर्वाह संस्कृत में ही हो सकता है। हिंदी आदि भाषाओं में अधिकतर यही संभव है कि बहुत माथापच्ची करने पर श्लेष का ढांचा भर खड़ा किया जा सके पर अर्थ की रमणीयता दूर हो जाती है। अतः यह अलङ्कार हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है।

अभङ्ग श्लेष—

'रहिमन' पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मोती, मानुस, चून॥

यहाँ एकही पानी शब्द के बिना टुकड़े किये चमक, प्रतिष्ठा और जल ये तीन अर्थ निकलते हैं जिनका क्रमशः मोती, मानुस और चून से अन्वय होता है, इसलिये यह अभङ्ग श्लेष है।

जो चाहो चटक न घटे, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त॥

यहाँ रज शब्द के रजोगुण और धूल तथा नेह के प्रेम और

स्निग्ध द्रव्य (तैल आदि) ये दो अर्थ बिना भङ्ग के निकलते हैं। अतः यह भी अभङ्ग श्लेष का उदाहरण है।

रावन सिर सरोज बनचारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥

यहाँ शिलीमुख के दो अर्थ हैं, बाण और भ्रमर। (रावण के मस्तक रूप कमलवन में राम के बाणरूप भौंरे घुस गये)। यहाँ भी पूर्ववत् अभङ्ग श्लेष है।

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई। प्रसाद

यहाँ घनीभूत के दो अर्थ हैं—इकट्ठी हुई और मेघ बनी हुई। वैसे ही दुर्दिन के अर्थ हैं—बुरे दिन (प्रतिकूल समय) और मेघाच्छन्न दिन। घनीभूत और दुर्दिन का भङ्ग किये बिना ही ये दोनों अर्थ उपलब्ध होते हैं अतः यह भी अभङ्ग श्लेष है।

सभङ्ग श्लेष—

बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥

यहाँ खलों की वंदना करते हुए तुलसीदास जी शक्र (इन्द्र) से उनकी उपमा देते हैं और दोनों के लिये एक विशेषण 'सुरानीक' का प्रयोग करते हैं जिसका खलों के पक्ष में अर्थ है, 'सुरा (मदिरा) + नीक (अच्छी) है जिन्हें' और इन्द्र के पक्ष में 'सुर (देव) + अनीक (सेना) वाले'। तो यहाँ सुरानीक शब्द के सुरा + नीक और सुर + अनीक इन दो प्रकारों से टुकड़े करके दो अर्थ प्राप्त किये जाते हैं अतः सभङ्ग श्लेष है।

हे भूप ! कुबेर, सुरेश सी सबों ने देखी वसुधारणचातुरी तुम्हारी। *

किसी राजा की प्रशंसा करते हुए कवि उसे कुबेर और इन्द्र

दोनों के समान बता रहा है और विशेषण ऐसा देता है जो कुबेर और इन्द्र दोनों में भङ्ग करके लागू हो जाता है।

कुबेर के सदृश—वसु (धन)+धारण (रखने की)+ चातुरी (निपुणता)।

इन्द्र के सदृश—वसुधा (पृथ्वी में)+रण (युद्ध की)+ चातुरी (निपुणता)।

इस प्रकार एक बार 'वसु+धारण' और दूसरी बार 'वसुधा+रण' भङ्ग करके अर्थ निकालने से सभङ्ग श्लेष है।

अनन्ताकाशनिर्मल शरद में है।❀

शरद् का वर्णन है। अनन्ता (पृथ्वी)+काश (तृणविशेष के पुष्पों) से निर्मल (उज्ज्वल) है। (शरद् ऋतु में काश —मूंज की तरह का एक तृण—फूलता है और उससे दूर-दूर तक उज्ज्वलता छा जाती है। दे०तु० फूले कास सकल महि छाई)।

अनन्त (असीम)+आकाश (गगन)+निर्मल (स्वच्छ-मेघमुक्त) है। (वर्षा ऋतु के बीत जाने से शरद् में आकाश स्वच्छ हो जाता है)। यहाँ भी सभङ्ग श्लेष है।

विश्वविदित सन्तापकारिता, जीवन पाते शान्ति।
रजमलिनान्तर खल-निदाघ दोनों उपजाते भ्रान्ति।❀

खलों की सन्तापकारिता (सन्त-सज्जनों की अपकारिता—अपकार करना) विश्व में विदित है; उनसे जीव (प्राणी) न (नहीं) शान्ति पाते अर्थात् खलों की चेष्टाओं से सभी प्राणी अशांत रहते हैं; वे रज (रजोगुण) से मलिन (दूषित) अंतर (हृदय) वाले होते हैं तथा भ्रान्ति उपजाते हैं—दूसरों [illegible] भ्रम (धोखे) में डालते हैं।

अ[illegible] खलों का सज्जनों के साथ अपकार विश्वविदित है,

उनसे जीवों को कभी शांति नहीं मिलती, उनका हृदय रजोगुण से सदा दूषित रहता है और वे भ्रान्ति फैलाते हैं।

निदाघ (ग्रीष्म ऋतु) के पक्ष में इसका अर्थ है—ग्रीष्म की सन्तापकारिता (सन्ताप—गर्मी + कारिता—करना) विश्व-विदित है, जीवन (जल) से ही शान्ति मिलती है, वह रज (धूल) से मलिन (गन्दा) अंतर (आकाश) वाला है और भ्रान्ति (चक्राकार बवंडर) उत्पन्न करता है।

अर्थात् ग्रीष्म का तपाना संसार-प्रसिद्ध है, उसमें केवल जल से शांति मिलती है, धूल से दिशायें मलिन रहती हैं और रह-रहकर भ्रान्त (बवंडर) उत्पन्न होती है।

यहाँ पूर्वार्द्ध में सभङ्ग श्लेष है क्योंकि सन्तापकारिता के (सन्त + अपकारिता और सन्ताप + कारिता), तथा जीवन के (जीवन और जीव + न) इस प्रकार टुकड़े करके दो अर्थ प्राप्त करते हैं। उत्तरार्द्ध में 'रजमलिनान्तर' और 'भ्रान्ति' में अभङ्ग श्लेष है क्योंकि उनके बिना भङ्ग किये ही दो अर्थ मिल जाते हैं। यहाँ एक ही पद्य में सभङ्ग और अभङ्ग दोनों के उदाहरण वर्त्तमान हैं।

श्लेष की शब्दालंकारता पर विचार

श्लेष को कुछ आचार्य (मम्मट, विश्वनाथ आदि) तो शब्दालंकार मानते हैं पर कुछ (जैसे उद्भट) अर्थालङ्कार; फिर रुय्यक सभङ्ग श्लेष को शब्दालङ्कार और अभङ्ग श्लेष को अर्थालंकार मानते हैं। इस प्रकार श्लेष को लेकर आचार्यों में काफी मतभेद है और अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिये प्रत्येक ने अलग-अलग तर्क दिये हैं।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि वस्तुतः श्लेष को श[illegible]ालङ्कार कहना उचित है या अर्थालङ्कार। [illegible]ौर

अलङ्कार, गुण या दोष का शब्दार्थगत विभाग अन्वय-व्यतिरेक [1] पर आश्रित है। यदि किसी शब्द के परिवर्त्तन के बाद भी कोई अलङ्कार अक्षुण्ण रहता है तो स्पष्ट है कि वह शब्द पर निर्भर नहीं अपितु अर्थ से संबद्ध है और यदि शब्द-परिवर्त्तन से वह अलङ्कार नष्ट हो जाता है तो कहना होगा कि वह शब्दाश्रित है अर्थाश्रित नहीं, इसी नियम के अनुसार शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का विभाजन किया जाता है।

सभङ्ग श्लेष में तो निश्चित है कि शब्द परिवर्त्तन से अर्थ भी परिवर्त्तित हो जायगा जैसे ऊपर के दूसरे उदाहरण में 'वसुधारणचातुरी' के बदले यदि 'धनधारणचातुरी' कर दें तो कुबेर से तो राजा की उपमा संगत होगी पर इन्द्र का सादृश्य असंगत हो जायगा क्योंकि वसु शब्द रखने पर ही वसु-धारण और वसुधा-रण इस प्रकार का भंग कर दोनों सादृश्यों के अनुकूल दो अर्थ लिये जाते हैं पर 'धन धारण' में वह बात असंभव हो जाती है, इन्द्र के साथ सादृश्य-बोधक अर्थ मिलता ही नहीं। वैसे ही यदि 'अनन्ताकाशनिर्मल' के स्थान पर 'अनन्तव्योमनिर्मल' कर दें तो एक अर्थ तो ठीक है पर पृथ्वी के लिये जो 'काशनिर्मल' विशेषण मिलता था वह विनष्ट हो जाता है। अतः सभङ्ग श्लेष में शब्द परिवर्त्तन से अर्थपरिवर्त्तन सिद्ध है।

अभङ्गश्लेष में भी शब्द-परिवर्त्तन कर देने पर अर्थ-परिवर्त्तन हो जाता है जैसे पहले उदाहरण में 'पानी गये न ऊबरैं' के स्थान पर यदि 'जल के गये न ऊबरैं' पाठ कर दें तो जल से चमक और प्रतिष्ठा का अर्थ नहीं निकलता; वह विशेषता पानी शब्द में ही है जिसके तीनों अर्थ होते हैं। वैसे ही दूसरे

---

[1] अन्वय-व्यतिरेक का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। दे० पृ० २

उदाहरण में यदि रज के स्थान पर धूल, नेह के स्थान पर प्रेम कर दें तो रजोगुण और स्निग्धद्रव्य के अर्थ नहीं मिल सकते। तो यहाँ भी शब्द-परिवर्त्तन से अर्थ परिवर्त्तित हो जाता है।

निष्कर्ष यह कि सभङ्ग या अभङ्ग कोई भी श्लेष क्यों न हो उसका चमत्कार शब्द पर ही अवलम्बित है अर्थ पर नहीं। इसलिये उसे शब्दालंकार कहना ही तर्क-संगत है।

हाँ, जहाँ शब्द-परिवर्त्तन के बाद भी अर्थ परिवर्त्तित नहीं होता वहाँ अर्थश्लेष मानना चहिये ; जैसे—

रंचहिं सों ऊँचो चढ़ै रंचहिं सों घटि जाय।
तुलाकोटि खल दुहुन को एकै रीति लखाय॥

यहाँ यदि 'रंचहिं' के बदले 'थोड़हिं' कर दें तो भी अर्थ में कोई अंतर नहीं पड़ता। इस भाँति यह श्लेष अर्थ से संबद्ध है, शब्द से नहीं। अतएव इसे अर्थश्लेष कहेंगे और इसकी गणना अर्थालङ्कारों में की जायगी।

यही श्लेष का शब्दार्थगत विभाग है।

इस प्रकार मम्मट, विश्वनाथ आदि ने जो शब्दश्लेष को शब्दालङ्कार माना है वही उचित और मान्य है।

वक्रोक्ति

यदि वक्ता के अन्यार्थक वाक्य का, श्लेष या काकु से, श्रोता अन्य अर्थ करे तो वक्रोक्ति अलंकार होता है।†

वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र (टेढ़ी) उक्ति (कथन) अर्थात्

---

† अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यम् अन्यथा योजयेद् यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा॥ सा० द०

कथन को टेढ़ा करना। कहनेवाला किसी दूसरे तात्पर्य से कुछ कहे और सुननेवाला उसका दूसरा ही—वक्ता के इष्टार्थ से सर्वथा भिन्न तात्पर्य समझ ले तो वैसे स्थल पर वक्रोक्ति अलंकार होता है। इस प्रकार के दूसरे अर्थ की कल्पना दो कारणों से संभव होती है—(१) श्लेष से अथवा (२) काकु से।

जैसा श्लेष के प्रकरण में कहा जा चुका है श्लिष्ट शब्द के कई अर्थ होते हैं जैसे 'हरि' के विष्णु, इन्द्र, सिंह, घोड़ा, बन्दर, मेंढक आदि बारह अर्थ हैं। अब यदि कोई घोड़े को देखकर कहे कि 'मैंने हरि को देखा है' और सुननेवाला उसका अर्थ बंदर समझ ले तो इसी को वक्रोक्ति कहते हैं। ऐसा समझना संभव है क्योंकि हरि शब्द के, घोड़ा और बन्दर, दोनों ही अर्थ हुआ करते हैं। यहाँ श्लेष के द्वारा वक्रोक्ति है।

काकु ध्वनि के विकार को कहते हैं। इस तरह के ध्वनि-विकार—आवाज में परिवर्तन से हम प्रायः काम लेते हैं, विशेषतः प्रश्न आदि में इसका पर्याप्त उपयोग होता है। जैसे 'आप जा रहे हैं' का सीधा उच्चारण किसी के जाने का बोधक भर है और इसी को यदि प्रश्न के रूप में उच्चारण करें तो दूसरी तरह से कहेंगे। काकु से अर्थ में, आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। 'आप जरा जाइये तो' का अर्थ 'आप जाइये' भी है और उच्चारण भेद से 'आप न जाइये' यह भी होगा; एक विध्यात्मक, दूसरा निषेधात्मक। विधि और निषेध—हाँ और ना—तक को एक ही वाक्य से, केवल काकु के द्वारा प्रकट किया जा सकता है। इसलिये काकु से भी वक्तव्य के अभिप्राय में अन्तर पड़ जाता है।

(१) जो वक्रोक्ति श्लेष के कारण होती है उसे श्लेषमूला वक्रोक्ति कहते हैं।

(२) जो वक्रोक्ति काकु के बल पर खड़ी होती है, उसे काकुमूला वक्रोक्ति कहते हैं।

सभङ्ग-श्लेष-वक्रोक्ति—

मान तजो गहि सुमति बर, पुनि-पुनि होत न देह।
मानत जोगी जोग को मोहि न जोग सनेह॥

कोई किसी से कहता है—'हे वर (श्रेष्ठ)! सुमति गहि (सुन्दर बुद्धि से काम लेकर) मान तजो (रूठना छोड़ दो)'। इन शब्दों को सुननेवाला 'मानत जोगहि सुमति वर'—सुन्दर बुद्धिवाले योग को मानते हैं—इस प्रकार शब्द तोड़कर, उत्तर देता है कि 'योगी योग को मानते हैं, हम योग से स्नेह नहीं करते।' 'मानतजोगहि' इतने अंश को टुकड़ेकर उसका दूसरा अर्थ किया गया है अतः यहाँ सभङ्गश्लेषमूला वक्रोक्ति है।

अभंग-श्लेष-वक्रोक्ति—

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?
उसने कहा 'अपर' कैसा ? वह उड़ है गया सपर है। नूर०

यहाँ पूर्वार्द्ध में जहाँगीर ने दूसरे कबूतर के बारे में पूछने में अपर (अन्य) शब्द का प्रयोग किया है पर नूरजहाँ ने अपर का बिना पर (पंख) वाला अर्थ कर उत्तरार्द्ध में उत्तर दिया है। अपर में अभङ्गश्लेष है और तन्मूलक यहाँ वक्रोक्ति है।

मैंने पहले ही इस बात पर प्रकाश डाला है कि सभङ्गश्लेष या तन्मूलक दूसरे अलंकारों की जो छटा, जो चमत्कार, संस्कृत भाषा में संभव है वह हिंदी में नहीं। इसलिये हिंदी में सभङ्गश्लेष के उदाहरण में वह लोच, वह रमणीयता कदापि

संभव नहीं जो संस्कृत में है। यहाँ तो किसी प्रकार खींचतान कर ऊलजलूल शब्दों से श्लेष का ढाँचा भर खड़ा कर दिया जाता है। उसमें स्वाभाविकता एकदम नहीं रहती।

अम्बरगत बिलसत सघन, स्याम पयोधर दोय।
देहु दिखाइ न राखिये, बलि कंचुक-बिच गोय॥

नायक से नायिका कह रही है, 'हे श्याम! अंबरगत (आकाश में) दो घन पयोधर (बादल) शोभ रहे हैं'। यहाँ अंबर और पयोधर का श्लेप से दूसरा अर्थ समझकर (वस्त्र में, कपड़े के नीचे दो कठोर स्तन शोभ रहे हैं) नायक कहता है कि 'हे सुंदरि! इन पयोधरों (स्तनों) को अंबर (वस्त्र) में न छिपा रखो, दिखा दो।' नायिका ने अंबर और पयोधर का प्रयोग क्रमशः आकाश और मेघ के लिये किया है और नायक ने श्लेष द्वारा अंबर का वस्त्र और पयोधर का स्तन अर्थ कर उत्तर दिया है। अतः यहाँ भी वक्रोक्ति है। अंबर और पयोधर का खंड किये बिना अर्थ बदल गया है इसलिये इसे अभङ्गश्लेप-मूला वक्रोक्ति कहेंगे।

काकु वक्रोक्ति—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥

'तुम्हें तप उचित और मुझे भोग' यह विधिवाक्य काकु के द्वारा निषेध का अर्थ प्रदान करता है अर्थात् तुम्हें तप और मुझे भोग उचित नहीं है।

मानस-सलिल-सुधा-प्रतिपाली। जियइ कि लवन-पयोधि मराली।
नर रसाल-बन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला।

यहाँ भी काकु के द्वारा 'जियइ' का अर्थ 'न जियइ' और 'सोह' का अर्थ 'न सोह' है।

जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं।
तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं? साकेत

यहाँ द्वितीय पंक्ति में काकु के द्वारा 'नहीं टाल सकते हैं' यह अर्थ होता है।

वीप्सा

आदर, घबराहट, आश्चर्य, घृणा, रोचकता आदि प्रदर्शित करने के लिये किसी शब्द को दुहराना वीप्सा अलंकार कहलाता है।

वीप्सा का अर्थ है दुहराना। इस अलङ्कार में चूंकि एक ही शब्द को दुहराया जाता है इसलिये इसे वीप्सा कहते हैं।

किसी भाव को अधिक प्रभावोत्पादक रूप देने के लिये हम प्राय: शब्दों को दुहरा दिया करते हैं जैसे किसी के आने पर आदर दिखाने के लिये 'आइये, आइये,' घबराहट में 'भागो, भागो' 'या चुप, चुप', आश्चय में 'देखो, देखो', घृणा में 'छि:-छि:, 'राम-राम', रोचकता में 'मधुर, मधुर' इत्यादि। इन शब्दों की आवृत्ति किये बिना भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती।

इस अलङ्कार का संस्कृत के आचार्यों द्वारा उल्लेख नहीं किया गया है। इसे हिन्दी के आलङ्कारिकों ने ही माना है।

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।—महादेवी

यहाँ मधुर मधुर की आवृत्ति में वीप्सा है।

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज,
कल-कूजित कर उर का निकुंज,
चिर सुभग, सुभग।—पंत

जीवन का उल्लास
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास !
रे फैल-फैल फेनिल हिलोल
उठती हिलोल पर लोल-लोल;
शतयुग के शत बुद्‌बुद् विलीन
बनते पल-पल शत-शत नवीन;
जीवन का जलनिधि डोल-डोल
कल-कल छल-छल करता किलोल ।—पंत

इस प्रकार सारी कविता ही वीप्सा से भरी है। आधुनिक कवियों में पंत को वीप्सा बहुत अधिक प्रिय है।

× × ×

पद्मबन्ध, मुरजबन्ध आदि जो चित्रकाव्य अधमकाव्य कहलाते हैं उनमें काव्यत्व नाममात्र को भी नहीं रहता। उन्हें अलङ्कार न कहकर पहेली कह सकते हैं क्योंकि उनके विन्यास में अपरिमित शक्ति और श्रम का घोर अपव्यय होता है और समझने में भी कम माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। इसलिये उनकी चर्चा व्यर्थ समझकर उन्हें छोड़ दिया गया है।

पुनरुक्तवदाभास

भिन्न आकारवाले शब्दों के अर्थ में आपाततः—सहसा—पुनरुक्ति की प्रतीति को पुनरुक्तवदाभास कहते हैं।†

† आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम्।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः। सा० द०

पुनरुक्तवदाभास शब्द का अर्थ है पुनरुक्ति सा आभास। 'आभास' से ही यह स्पष्ट है कि वस्तुत: इसमें पुनरुक्ति रहती नहीं है पर शब्दों का सन्निवेश कुछ इस प्रकार रहता है कि पुनरुक्ति सी प्रतीति होने लगती है। जैसे कोई कहे कि "हाथ में कर दे दिया," यहाँ 'हाथ' और 'कर' में सहसा पुनरुक्ति सी झलकती है—ऐसा मालूम पड़ता है जैसे दोनों का एक ही अर्थ—हाथ हो पर अर्थ की पर्यालोचना के अनंतर यह बात समझ में आती है कि 'हाथ' का अर्थ हाथ और 'कर' का अर्थ हाथ नहीं, लगान या मालगुजारी है। उसके बाद यह पुनरुक्ति की भावना मिट जाती है। इस अलङ्कार की स्थिति तभी तक रहती है जब तक वास्तविक अर्थ का बोध नहीं हो लेता—अर्थ की स्पष्टता के बाद इसका अंत हो जाता है। इसीलिये लक्षण में आपाततः या सहसा शब्द का प्रयोग हुआ है।

यमक से इसका अंतर दिखाने के लिये 'भिन्न आकारवाले' विशेषण का व्यवहार हुआ है। भिन्नार्थक शब्द तो दोनों में ही रहते हैं—पुनरुक्तवदाभास में भी और यमक में भी पर इसके भिन्नार्थक शब्दों के आकार भी भिन्न होते हैं, और यमक के भिन्नार्थक शब्द एक ही आकारवाले रहते हैं।

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने पुनरुक्तवदाभास की गणना शब्दालङ्कारों में ही की है पर इसे उभयालङ्कार में ही रखना अधिक समीचीन है, कारण कि जिस अन्वयव्यतिरेक के नियमानुसार अलंकारों का विषय-विभाजन होता है उसके आधार पर यह शब्द और अर्थ दोनों ही के आश्रित है। कहीं तो इसमें शब्द-परिवर्त्तन संभव होता है और कहीं नहीं। जहाँ शब्द-परिवर्त्तन संभव है वहाँ अर्थ की प्रधानता रहती है और जहाँ शब्द-परिवर्त्तन संभव नहीं वहाँ शब्द की प्रधानता। इसलिये

शब्द और अर्थ उभयाश्रित होने से इसे शब्दार्थालङ्कार या उभयालङ्कार की श्रेणी में ही रखना उचित है। उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा।

जहाँ यह शब्दगत होता है वहाँ सभङ्ग और अभङ्ग दो रूपों से इसकी निष्पत्ति होती है।

शिवशङ्कर हर भव भय मेरे ।।

यहाँ शिव, शङ्कर, हर और भव का एक ही अर्थ होने से पुनरुक्ति की प्रतीति होती है पर अर्थबोध के पश्चात् उसका निराकरण हो जाता है। उसका अर्थ होगा—हे शिव ! शम् (कल्याण) कर और मेरे भव (संसार) के भय को हर (दूर कर)।

इस उदाहरण में शङ्कर में सभङ्ग और अन्यत्र अभङ्ग है।

हिमगिरि के मस्तक से निर्झर बन बह चला पसीना।
पानी में है जान सभी की जीवन ही है जीना। नूर०

यहाँ जीवन और जीना में पुनरुक्तवदाभास है, दोनों का एक ही अर्थ प्रतीत होता है पर जीवन का अर्थ जल है। ग्रीष्म ऋतु में जल ही पर जीवन निर्भर करता है।

इसकी उभयालङ्कारता पर विचार करें :

पहले उदाहरण में शिव शब्द परिवृत्तिसह (परिवर्त्तन को सहन करनेवाला अर्थात् परिवर्त्तनीय) है अर्थात् शिव के बदले यदि किसी दूसरे पर्याय को भी रख दें तो अर्थ अक्षुण्ण रहता है। जैसे 'गिरीश'। जो अर्थ शिव का वही गिरीश का भी। यहाँ शब्द-परिवर्त्तन से भी कोई क्षति नहीं है पर शंकर के स्थान पर यदि किसी दूसरे पर्याय को रखें तो अर्थ बदल जायगा क्योंकि यह विशेषता शंकर शब्द में ही है जिसे तोड़कर शम् (कल्याण) + कर का अर्थ लिया जा सकता है। इसलिये इसे

परिवृत्त्यसह (परिवृत्ति को सहन नहीं करनेवाला) कहेंगे। हर और भव भी परिवृत्त्यसह हैं। परिवृत्तिसह में अर्थ की प्रधानता रहती है—शब्द की नहीं क्योंकि उसमें शब्द-परिवर्त्तन करने पर भी अर्थ ज्यों का त्यों रह जाता है किंतु परिवृत्त्यसह में शब्द-परिवर्त्तन करने पर अर्थ बदल जाता है। अतः वहाँ का चमत्कार शब्दाश्रित रहता है इसलिये उसमें शब्द का प्राधान्य है। जिसका प्राधान्य हो अलंकार तद्गत ही समझना चाहिये। इस भाँति पुनरुक्तवदाभास में, परिवृत्तिसह और परिवृत्त्यसह दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग रहने से, शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता है। अतः इसे उभयालंकार ही मानना चाहिये।

इस अलंकार की स्थिति प्रायः अनेकार्थक शब्दों पर निर्भर करती है। अतएव इसे श्लेषमूलक कह सकते हैं।

अर्थालङ्कार

उपमा

दो भिन्न पदार्थों के सादृश्य-प्रतिपादन को उपमा कहते हैं।†

उपमा का अर्थ है (उप) समीप से (मा) तौलना (देखना) अर्थात् एक वस्तु के समीप दूसरी वस्तु को रखकर उनकी समानता प्रतिपादित करना।

अर्थालङ्कारों का मूलाधार, उपमा ही है। [1] सादृश्य-मूलक

† साधर्म्यमुपमा भेदे। का० प्र०

1 (क) उपमैव च प्रकारवैचित्र्येण अनेकालङ्कारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा। रूय्यक

अलङ्कार तो इसीके रूपान्तर हैं।[२] ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रंथ तक में उपमा का प्रयोग बड़े ही सुव्यवस्थित रूप में पाया जाता

(ख) अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥ राजशेखर—(अलङ्कार-शेखर में उद्धृत)

(ग) उपमैषा शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥ अप्पय दीक्षित

(घ) विपुलालङ्कारान्तर्वर्तिनी उपमा । **पण्डितराज जगन्नाथ**

२ कैसे उपमाही प्रकार-भेद से भिन्न-भिन्न अलङ्कारों का रूप धारण करती है यह नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है :—

१ उपमा—मुख चंद्र सा है।

२ अनन्वय—मुख मुख ही सा है।

३ उपमेयोपमा—मुख सा चंद्र और चंद्र सा मुख है ।

४ प्रतीप—मुख सा चंद्र है।

५ रूपक—मुख चंद्र है ।

६ उल्लेख—(उसके) मुख को कोई कमल, कोई चंद्र कहता है।

७ स्मरण—चंद्र को देख कर, मुख याद आता है।

८ भ्रान्तिमान्—मुख को देख चकवों का जोड़ा अलग हो गया। (कवि-समय है कि रात को चकवा और चकवी साथ नहीं रहतीं। यहाँ मुख में चंद्र का भ्रम हो जाने से वे अलग हो जाते हैं।)

९ सन्देह—यह मुख है या चंद्र है ?

१० अपह्नुति—यह मुख नहीं, चंद्र है।

११ उत्प्रेक्षा—मुख मानों चंद्र है।

है जिसके आधार पर निरुक्तकार यास्क ने इसके चारों अङ्गों की विवेचना की है। हमारी प्रतिदिन की बोलचाल में विद्वान् से मूर्ख तक अपने अभिप्राय को स्पष्टतया व्यक्त करने के लिये उपमा की सहायता लिया करते हैं। तात्पर्य यह कि सर्वात्मना इसकी व्यापकता असंदिग्ध है। इसीलिये अर्थालङ्कारों में सर्वप्रथम उपमा का निरूपण किया गया है।

किसी के सुन्दर मुख को देखकर 'इसका मुख चाँद सा सुन्दर है', किसी के कोमल हाथ को छूकर 'इसका हाथ कमल के जैसा कोमल है', किसी मोटे या लंबे आदमी को देखकर 'यह हाथी सा मोटा है' या 'यह ऊँट सा लंबा है' किसी की मूर्खता पर खीझकर 'वह गदहे सा मूर्ख है' आदि अनंत प्रयोग प्रतिपल सुनने को मिलते हैं। इन वाक्यों पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि किसी वस्तु के विषय में अपनी भावना को अधिक सबलता, सुन्दरता और स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने के

---

१२ अतिशयोक्ति—यह चंद्र है।

१३ तुल्ययोगिता—उसके मुख, नेत्र और अधर में सुषमा का सार निहित है।

१४ दीपक—मुख और चंद्र शोभते हैं।

१५ प्रतिवस्तूपमा—मुख को देख कर नेत्र तृप्त हो जाते हैं।
चंद्र-दर्शन से किसकी आँखें नहीं जुड़ातीं?

१६ दृष्टान्त—मुख निसर्ग सुंदर है।
भला चंद्र को प्रसाधन की क्या आवश्यकता?

१७ निदर्शना—मुख की चंद्र से समता करना कमल को आक की पँक्ति में बैठाना है। मुख में चंद्र की चमक है।

१८ व्यतिरेक—चंद्र सकलङ्क, मुख निष्कलङ्क; दोनों में समता कैसी?

लिये हम किसी दूसरी वस्तु से, जिसकी वह विशेषता सुपरिचित रहती है, उसका सादृश्य दिखलाते हैं। चाँद मानों सुन्दरता का, कमल कोमलता का, हाथी मोटापन का, ऊँट लम्बाई का, गदहा मूर्खता का प्रतीक हो ! इनके इन गुणों को सभी जानते हैं, इसलिये जैसे ही इनके साथ हम किसी दूसरी वस्तु का साम्य प्रतिपादित करते हैं वैसे ही अपनी भावना को मानों हम अधिक मूर्त्त रूप दे देते हैं।

इन वाक्यों की रचना पर विचार करने से कुछ और बातें प्रकट होती हैं। सबसे पहले, कोई वस्तु हमारी दृष्टि में रहती है जिसकी किसी विशेषता को प्रदर्शित करना हम चाहते हैं। इसके बाद वैसी ही विशेषतावाली कोई दूसरी सुपरिचित या सुज्ञात वस्तु रखी जाती है; फिर उन दोनों में कोई साधारण (उभयनिष्ठ) गुण (विशेषता) रहना चाहिये जिसके कारण एक की तुलना दूसरे से की जा सके और अंत में एक ऐसे शब्द की आवश्यकता पड़ती है जो उस तुलना या सादृश्य को बतलानेवाला हो। जैसे ऊपर के उदाहरणों में मुख चाँद सा सुन्दर है, इसमें मुख के सौन्दर्य को प्रदर्शित करना वक्ता को अभीष्ट है। उस मुख के सौन्दर्य को अधिक स्पष्टता से उपस्थित करने के लिये चाँद का ग्रहण किया गया है क्योंकि उसका सौन्दर्य परम्परा से हमारे मस्तिष्क में वर्त्तमान रहता है। फिर कोई ऐसी विशेषता या गुण हो जो दोनों (मुख और चाँद) में समानरूप से वर्त्तमान हो। बिना इस तरह की समानता के उपमा नहीं दी जाती। कोई यह नहीं कहता कि इसका मुख घर के छप्पर सा सुन्दर है या वह आदमी रेल की पटरी सा मोटा है कारण कि मुख और छप्पर में अथवा आदमी और रेल की पटरी में कोई सादृश्य नहीं है। उपमा का सबसे बड़ा अवलंब यही सादृश्य-भावना है, जो जितनी ही सूक्ष्म और विशद होगी,

उपमा में उतनी ही रमणीयता आयगी। कालिदास की उपमाओं की यही विशेषता है जिसके लिये 'उपमा कालिदासस्य' कहकर उनकी अद्वितीयता सूचित की जाती है। इसके लिये बड़ी सूक्ष्म-दर्शिता अपेक्षित है।

दूसरे, यह आवश्यक नहीं कि जिन दो वस्तुओं में सादृश्य-कथन किया जाता है उनके सारे गुण आपस में मिल जायँ। वहाँ किसी एक या दो ही साम्यों के आधार पर उपमा का निर्वाह हो जाता है जैसे पूर्वोक्त मुख और चंद्र ही को लें। मुख कहाँ एक छोटा सा अंग और कहाँ चंद्र इस पृथ्वी सा विशाल ग्रह! दोनों में विस्तार की समता कैसी? यदि वस्तुतः चंद्र के इतना बड़ा किसी का मुख हो (अव्वल तो वह हमारी पृथ्वी पर अँट ही नहीं सकता पर थोड़ी देर के लिये वैसा मान भी लें) तो भरसक तो उसे देख कर हम भाग खड़े होंगे अथवा यदि अधिक साहस से काम लें तो विमान से हफ्तों उसकी चारों ओर चक्कर काटने के बाद शायद उसके पूर्ण सौंदर्य का हमें ज्ञान हो सके और सारे सौंदर्य का एक बार प्रत्यक्ष भी नहीं होगा। तो विस्तार के बल पर मुख और चंद्र का साम्य कितना बीभत्स होगा! फिर भी जो दिन-रात चंद्रमा से मुख की समता दी जाती है वह किस सादृश्य पर? उसे ही आलङ्कारिकों ने अपनी पारिभाषिक बोली में 'आह्लादकत्व' और 'प्रकाशकत्व' कहा है। जिस प्रकार चंद्रमा को देखकर हमारी आँखें आह्लादित होती हैं—जुड़ा जाती हैं वैसे ही सुंदर मुख को भी देखकर हमें विचित्र आह्लाद होता है, जैसी चमक चंद्रमा की है वैसी ही मुख की भी। तो यहाँ और किसी गुण के कारण नहीं बल्कि इन्हीं दो गुणों के कारण एक को दूसरे के समान कहते हैं। वैसे ही जब किसी आदमी को गदहा कहते हैं तो यह तात्पर्य थोड़े ही रहता है कि वह गदहे जैसा चौपाया जानवर है, घास चरता है, धोबी के यहाँ कपड़ों के बड़े गट्ठर

ढोता है, रेंकता है या वैशाख के महीने में मोटाताजा हो जाता है। इनमें से किसी गुण के कारण हम वैसा नहीं कहते। हमारे सादृश्य का आधार केवल उस गदहे की जड़ता—मूर्खता है। वैसा कहने का तात्पर्य यह रहता है कि जैसा अविवेक उस गदहे में है वैसा ही उस आदमी में भी। उपमा के संबंध में यही बात सर्वत्र समझनी चाहिये। अब यह कवि की विचक्षणता पर निर्भर करता है कि उस साधर्म्य को वह कहाँ तक सूक्ष्मता से देख सका है और कितनी निपुणता से कह सका है। इसी पर उपमा की सफलता निर्भर करती है। और अंततः इस सादृश्य को कहनेवाला कोई शब्द चाहिये। उदाहरणार्थ जैसा, ऐसा, सा, समान, सदृश आदि। इन चारों अंगों के मेल से ही उपमा का पूर्ण रूप उपस्थित किया जा सकता है। इन्हीं के लिये कुछ परिभाषिक शब्द हैं जो बारबार व्यवहार में आते हैं। उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

उपमेय—उपमेय का शाब्दिक अर्थ है 'उपमा देने के योग्य' अर्थात् जिसे उपमा दी जाय—जिसकी समता किसी दूसरे पदार्थ से दिखलायी जाय, जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में 'मुख' उपमेय है क्योंकि इसकी समता 'चंद्र' से की जाती है। 'हाथ कमल सा कोमल है' इस वाक्य में 'हाथ' उपमेय है। उपमेय के लिये प्रस्तुत, प्रकृत, विषय, वर्ण्य आदि शब्द भी आते हैं। उपमेय प्राय: उपमान की अपेक्षा अल्पगुणशाली हुआ करता है।

उपमान—जिससे उपमा दी जाती है—उपमेय को जिसके समान बतलाया जाता है उसे उपमान कहते हैं। पहले उदाहरण में 'चंद्र' और दूसरे में 'कमल' उपमान हैं क्योंकि इन्हीं के समान 'मुख' या 'हाथ' को कहा गया है। उपमान को अप्रस्तुत,

अप्रकृत, विषयी, अवर्ण्य आदि नामों से भी पुकारा जाता है। उपमेय की अपेक्षा उपमान अधिकगुणशाली होता है।

आरंभ में उपमेय और उपमान को पहचानने में अधिकतर कठिनाई हुआ करती है। दोनों को पहचानने का सबसे सुगम उपाय यह है कि जो कम गुणवाला हो उसे उपमेय और जो अधिक गुणवाला हो उसे उपमान समझना चाहिये। यद्यपि इस नियम का विपर्यय भी देखा जाता है पर वैसे स्थल कम आते हैं और तब तक उपमेय-उपमान का परिज्ञान पूर्णतया हो चुका रहता है, इसलिये संदेह का अवकाश कम रहता है। यह अलंकार शास्त्र आरंभ करनेवाले के लिये एक सरल मार्ग के रूप में दिखा दिया गया है।

साधारण धर्म—पहले की विवेचना में यह कहा जा चुका है कि दो वस्तुओं के बीच साम्य प्रतिपादन किसी ऐसे गुण या विशेषता के ऊपर निर्भर करता है जो दोनों में वर्त्तमान रहता है—दोनों में पायी जाती है। इसी गुण या विशेषता को साधारण धर्म (Common attribute) कहते हैं। धर्म शब्द का यहाँ गुण अर्थ ही होता है। पूर्वोक्त उदाहरणों में 'सुन्दर' और 'कोमल' साधारण धर्म हैं। साधारण धर्म के पर्याय समान धर्म, साधर्म्य आदि भी हैं। संक्षेप में केवल धर्म भी व्यवहृत होता है। साधारण धर्म कहीं तो गुण (विशेषण)-रूप और कहीं क्रिया रूप हुआ करता है। जैसे, मुख चंद्र सा सुन्दर है' यहाँ गुणरूप और 'मुख चंद्र सा शोभता है' यहाँ क्रियारूप साधारण धर्म है। दोनों को साधारण धर्म ही कहते हैं।

सादृश्य-वाचक—उपमेय और उपमान के बीच की समता को बताने के लिये जिस शब्द का प्रयोग होता है उसे सादृश्य-वाचक कहते हैं। सा, ऐसा, जैसा, सदृश, समान तुल्य आदि

सादृश्यवाचक शब्द हैं। इन्हें ही औपम्यवाचक, साधर्म्य-वाचक, या (संक्षेप की दृष्टि से) केवल वाचक भी कहा जाता है।

उपमा के सर्वप्रथम दो भेद हैं—पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। फिर इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं जिन्हें आगे कहा जायगा।

पूर्णोपमा

जहाँ उपमा के पूर्वोक्त उपमेय आदि चारों अङ्गों का शब्द द्वारा कथन हो उसे पूर्णोपमा कहते हैं।

पूर्णोपमा के मुख्य दो भेद हैं:—श्रौती और आर्थी।

श्रौती पूर्णोपमा—जहाँ इव, यथा, वा, सा, से, सी, सों, लौं, जिमि, जैसा आदि साधर्म्य-वाचकों का प्रयोग हो वहाँ श्रौती उपमा होती है। कारण यह है कि अर्थ के अनुसंधान के बिना ही ये शब्द श्रवणमात्र से सादृश्य-बोध कराने में समर्थ होते हैं। इनसे सादृश्य-बोध साक्षात्, अभिधा द्वारा हो जाता है। ये शब्द उपमान के साथ अन्वित रह कर तुरत उपमेय का आक्षेप करते हैं जैसे 'चंद्र सा' इतना सुनने के बाद अनुपद जिज्ञासा होती है कि 'क्या' और उसका उत्तर 'मुख' मिलने के बाद ही वह विरत या शांत होती है। अतः यहाँ सादृश्य-स्थापन के लिये बुद्धि को कोई दौड़ नहीं लगानी पड़ती, बल्कि उपमेय-उपमान का संबन्ध, अनायास सिद्ध हो जाता है। वस्तुत: उपमेय-उपमान को मिलानेवाले ये संयोजक शब्द हैं। इनके द्वारा उनका संबन्ध द्योतित नहीं अभिहित हुआ करता है। इसीलिये इन शब्दों का प्रयोग रहने पर श्रौती उपमा मानी जाती है।

लोचन कुवलय से विशाल, आनन विधु सा शोभाकर।*

यहाँ दोनों चरणों में पूर्णोपमा है क्योंकि उपमा के चारों

अंग वर्त्तमान हैं। 'से' और 'सा' वाचकों के कारण श्रौती उपमा कहेंगे।

उपमेय	उपमान	वाचक	साधर्म्य
लोचन	कुवलय	से	विशाल
आनन	विधु	सा	शोभाकर

राम-चरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू॥

यहाँ उपमेय—मन, उपमान—(लुब्ध) मधुप, साधर्म्य—'पासू न तजै' और वाचक—इव रहने से श्रौती पूर्णोपमा है। 'पासू न तजै' यह क्रियारूप साधारण धर्म है।

सोनजुही-सी जगमगै, अँग-अँग जोबन जोति।
सुरँग कुसुंभी चूनरी, दुरँग देह-दुति होति॥

यहाँ जोबन-जोति (यौवन-ज्योति) उपमेय, सोनजुही उपमान, जगमगै साधारण धर्म और सी वाचक है। चारों अंगों के कारण पूर्णोपमा और सी के प्रयोग से श्रौती है। यहाँ भी 'जगमगै' क्रिया रूप साधारण धर्म है।

बैठी है सीता सदा राम के भीतर।
जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर॥ साकेत

यहाँ उपमेय सीता, उपमान विद्युद्द्युति, साधर्म्य 'बैठी है' और वाचक जैसे हैं।

आर्थी पूर्णोपमा—सादृश्यवाची शब्दों में जब तुल्य, सम, समान, सदृश, सरिस आदि का व्यवहार होता है तब आर्थी उपमा कही जाती है। बात यह है इनके प्रयोग में बिना अर्थानुसंधान के सादृश्य-संबन्ध स्पष्ट नहीं होता। इनकी स्थिति या अन्वय किसी एक के साथ निश्चित रूप से नहीं पाया जाता। ये कभी उपमेय, कभी उपमान और कभी दोनों से अन्वित रहा करते हैं—जैसे 'चन्द्र के समान मुख है,' यहाँ उपमेय-मुख से,

'मुख है समान चन्द्र के' यहाँ उपमान चंद्र से और 'चंद्र तथा मुख समान हैं' यहाँ उपमेय-उपमान दोनों से 'समान' शब्द संबद्ध है, अर्थात् ये शब्द सादृश्य के साक्षात्—अर्थानुसंधाननिरपेक्ष-तया—वाचक नहीं होते। इनके अन्वय या अर्थ पर विचार करने पर ही सादृश्यबोध होता है। इव, सा आदि शब्द उपमान के साथ निश्चित रूप से स्थित रहकर अर्थ-मीमांसा की अपेक्षा नहीं रखते। अर्थ की दृष्टि से सादृश्य के वाचक तो जैसे इव, सा आदि वैसे ही तुल्य, समान आदि भी हैं पर केवल उनके अन्वय और स्थिति से श्रौती और आर्थी का भेद हो जाता है।

चरण कमल सम कोमल, लोहित नव-पल्लव-दल सम कर। ॐ

यहाँ दोनों चरणों में आर्थी पूर्णोपमा है।

उपमेय	उपमान	सादृश्यवाचक	साधर्म्य
चरण	कमल	सम	कोमल
कर	नव-पल्लव-दल	सम	लोहित

'सम' के प्रयोग से आर्थी उपमा कहेंगे।

सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥

यहाँ संत उपमेय, मधुकर उपमान, गुनग्राही साधर्म्य और सरिस वाचक शब्द है। सरिस आर्थी उपमा का वाचक है।

सायँक सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात॥

यहाँ प्रथम चरण में पूर्णोपमा है—और 'सम' वाचक का प्रयोग रहने से आर्थी है।

श्रौती और आर्थी के प्रथम दोनों उदाहरणों को एक साथ

मिला देने पर दोनों के उदाहरण एक ही स्थान पर मिल जायँगे।

लोचन कुवलय से विशाल, आनन विधु सा शोभा कर।
चरण कमल सम कोमल, लोहित नव-पल्लव-दल सम कर॥

लुप्तोपमा

जब उपमेय, उपमान, साधर्म्य और औपम्यवाचक में से किसी एक, दो या तीन अङ्गों का लोप (कथन नहीं) हो तो उसे लुप्तोपमा कहते हैं।

उपमा के पूर्वोक्त चारों अङ्गों का शब्द द्वारा कथन हो ही यह कोई आवश्यक नहीं। प्रसङ्गानुसार कभी कोई एक, कभी दो और कभी तीन अङ्ग भी लुप्त (छिपे) रह सकते हैं। जब इस प्रकार कोई अङ्ग लुप्त रहे तो लुप्तोपमा होती है। कुछ लोग जैसे (पोद्दारजी) उपमेय के लोप में लुप्तोपमा नहीं मानते पर ऐसा करना बुद्धि-संगत नहीं है। उपमेय-लुप्ता के भी उदाहरण मिलते हैं, जैसा अभी दिखाया जायगा; फिर भी उसे लुप्तोपमा के भेदों में न गिनना विचित्र न्याय है। यदि कहें कि उसमें चमत्कार नहीं रहता है तो यह भी जबर्दस्ती ही है। हाथ कंगन को आरसी क्या? देख ही लीजिये—

(१) उपमेयलुप्ता—जहाँ उपमेय को छोड़कर उपमा के शेष तीनों अङ्गों का कथन हो।

चंचल हैं ज्यों मीन, अरुनारे पंकज-सरिस।
निरखि न होय अधीन, ऐसो नर-नागर कवन॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रथम चरण में मीन उपमान, चंचल साधर्म्य और ज्यों वाचक तथा द्वितीय चरण में पंकज उपमान, अरुनारे

साधर्म्य और सरिस वाचक शब्द है। उपमेय नेत्र का कथन नहीं है पर अनायास ही उसका आक्षेप हो जाता है।

बात यह है कि उपमेय के लोप में यह खतरा हमेशा बना रहता है कि यदि उपमान स्पष्ट और चुभता नहीं हुआ तो वास्तविक उपमेय के समझने में गड़बड़ी हो जा सकती है। इसलिये ऐसे स्थल पर कवि को अधिक सावधानी से काम लेना चाहिये। साथ ही अर्थकर्त्ता को भी आलंकारिक परम्पराओं से परिचित रहना आवश्यक है जिससे वह अपनी कल्पना के बल से अनुक्त उपमेय का ठीक-ठीक ग्रहण कर सके।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये :—

कोटि जतन कोऊ करौ, तन की तपनि न जाय।
जौलौं भीजे चीर लौं, रहै न प्यौ लपटाय॥

इसे बिहारी सतसई के कुछ टीकाकारों ने पूर्णोपमा का उदाहरण माना है, जो आलंकारिक प्रमाद का द्योतक है। यहाँ उपमान (भीजे चीर) साधारण धर्म (लपटाय) और सादृश्य-वाची (लौं) तीनों हैं ; पर उपमेय (नायिका) का लोप है। उसके लिये सर्वनाम तक का प्रयोग नहीं है, फिर इसे पूर्णोपमा कैसे कह सकते हैं ? अतः इसे भी उपमेयलुप्ता का ही उदाहरण समझना चाहिये।

(२) उपमानलुप्ता—जहाँ उपमा के चारों अंगों में केवल उपमान का लोप हो।

तीन लोक झाँकी, ऐसी दूसरी न झाँकी, जैसी
झाँकी हम झाँकी बाँकी जुगलकिसोर की।

यहाँ 'जुगलकिसोर की झाँकी' उपमेय, 'बाँकी' साधारण धर्म, 'ऐसी' वाचक पर 'ऐसी दूसरी न झाँकी' से उपमान का निषेध है।

(३) साधर्म्यलुप्ता—जहाँ एक साधर्म्य को छोड़कर शेष अंग वर्त्तमान हों।

कुन्द इन्दु सम देह, उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन-मयन॥

यहाँ उपमेय (शंकर की देह), उपमान (कुन्द और इन्दु) तथा वाचक (सम) हैं। गौर आदि साधारण धर्म का लोप है।

(४) वाचकलुप्ता—जहाँ वाचक लुप्त हो।

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम, सदा छीर-सागर-सयन॥

यहाँ उपमेय (छीर-सागर-सयन = विष्णु), उपमान (नील-सरोरुह) तथा साधारण धर्म (स्याम) हैं, वाचक शब्द का लोप है।

अथवा

सरद बिमल बिधु बदन सुहावन।

यहाँ भी वाचक शब्द का लोप है। बिधु उपमेय, बदन उपमान और सुहावन साधारण धर्म हैं।

(५) धर्मवाचक लुप्ता—जहाँ उपमेय और उपमान हों पर साधारण धर्म और वाचक का लोप हो।

सरस-बिलोचन, बिधुबदन, लख आली! घनश्याम।

यहाँ उपमेय (वदन) और उपमान विधु का कथन है। साधारण धर्म और वाचक लुप्त हैं।

धर्मवाचक-लुप्ता उपमा और रूपक के स्थल संकीर्ण से रहते हैं। वहाँ उपमा है या रूपक यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। इसपर विशद रूप से सन्देह-संकर अलंकार के प्रसंग में विचार किया जायगा। तब तक यहाँ इतना समझ लेना चाहिये

कि जहाँ विशेषण उपमेय से अन्वित होता हो वहाँ उपमा और जहाँ उपमान से अन्वित होता हो वहाँ रूपक माना जाता है। ऊपरवाले उदाहरण में सरस-विलोचन का होना मुख (उपमेय) में ही संभव है, चंद्रमा में आँखें नहीं होतीं। अतः इसे उपमा ही मानेंगे। वहीं यदि 'सरस-विलोचन' के बदले में 'करत दूरि तम' पाठान्तर कर दें तो 'विधु-वदन' में रूपक हो जायगा; क्योंकि तम (अंधकार) दूर करना मुख का नहीं, विधु (उपमान) का धर्म है—मुख से अंधकार नहीं दूर होता, चंद्रमा से दूर होता है। ऐसे स्थलों में साधक-बाधक-भाव के द्वारा ही अलंकार का निर्णय हो पाता है।

(६) धर्मोपमानलुप्ता—जहाँ उपमेय और वाचक हों, पर धर्म और उपमान का कथन न हो।

नंदन जैसा नहीं और उपवन है कोई।*

यहाँ 'नंदन' उपमेय और 'जैसा' वाचक है, उपमान और साधर्म्य का लोप है।

(७) धर्मोपमेयलुप्ता—जहाँ उपमान और वाचक हों पर उपमेय और धर्म लुप्त हों।

त्यौर तिरीछे किये मुनि संगहि, हेरत संभु-सरासन मार से।

धनुष-यज्ञ के समय राम-लक्ष्मण का वर्णन है। यहाँ अंत में उपमान (मार = कामदेव) और वाचक (से) हैं, पर उपमेय (राम-लक्ष्मण) तथा साधर्म्य (सुन्दर आदि) का लोप हैं।

* पोद्दारजी ने इस भेद को कुछ चमत्कार न होने के कारण लुप्तोपमा के भेदों में नहीं गिना, पर प्रस्तुत उदाहरण में चमत्कार है या नहीं यह सहृदय स्वयं विचार लें।

(८) **वाचकोपमानलुप्ता**—जहाँ उपमेय और साधारण धर्म हों, पर उपमान और वाचक न हों।

दाड़िम दसन सु सित-अरुन, है मृग नयन बिसाल।

यहाँ दसन और नयन उपमेय तथा सित-अरुन और बिसाल साधर्म्य हैं। वाचक और उपमान का लोप है। दाड़िम और मृग को उपमान नहीं कह सकते; बल्कि दाड़िम (अनार) के दाने और मृग के नेत्र उपमान होते हैं जो यहाँ लुप्त हैं।

इततैं उत उततैं इतै, छिन न कहूँ ठहराति।
जक न परति चकई भई, फिरि आवति फिरि जाति॥

यहाँ चकई उपमान और 'फिरि आवति फिरि जाति' धर्म हैं पर उपमेय नायिका और वाचक सी का लोप है।

(१०) **धर्मवाचकोपमानलुप्ता**—जहाँ एक उपमेय ही हो, शेष तीनों का लोप हो।

बिधु-बदनी मृग-सावक-लोचनि।

यहाँ उपमेय लोचन का कथन है, पर उपमान, वाचक और धर्म लुप्त हैं। यदि कहा जाय कि उपमान 'मृग-सावक' है ही फिर उपमान का लोप कैसे? तो बात यह है कि आँखें मृग-शावक या मृग सी नहीं, उसकी आँखों सी होती हैं; इसलिये उसका अर्थ है, मृगशावक के लोचनों-सी लोचनोंवाली। अत: यहाँ उपमान मृगशावक के लोचन हैं, मृगशावक नहीं और उनका कथन नहीं है। इस कारण उपमान का लोप ही कहा जायगा।

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया, मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि! इसमें खग अनजान।—पंत

यहाँ भी मृगेक्षिणि में पूर्ववत् केवल उपमेय ही है, शेष का लोप है।

लुप्तोपमा के ये ही दस प्रधान भेद हैं।

कुछ रीतिकालीन आचार्यों ने 'धर्म-वाचक-उपमेय' के लोप में भी लुप्तोपमा का एक भेद माना है पर यह कल्पना असंगत है। धर्म, वाचक और उपमेय तीनों के लोप का मतलब है केवल उपमान का वर्णन और रूपकातिशयोक्ति में भी केवल उपमान का ही वर्णन होता है। इस प्रकार दोनों का विषय अभिन्न हो जाता है। एक ही उदाहरण में दो लक्षण संघटित नहीं हो सकते। अतः लुप्तोपमा का यह भेद अमान्य है।

उपमा के और कितने ही भेद कुछ लोगों ने (उनमें प्रमुख काव्यादर्श के लेखक दण्डी हैं) गिनाये हैं। यह व्यर्थ-विस्तार अलंकार-शास्त्र को केवल जटिल और दुरूह ही बना सकता है; उसकी व्यावहारिकता अत्यन्त संदिग्ध है। अलंकारों के ऐसे भेदोपभेदों में मेरी आस्था नहीं। संभवतः यही कारण है कि पिछले आलंकारिकों—मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने उपमा के उन अनावश्यक भेदों को अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया। पर रीतिकाल के कुछ कवि जो अपने विषय के लिये इन पीछे के आलंकारिकों पर नहीं निर्भर कर पहले के दण्डी, भामह आदि से वस्तुएँ उधार लेते रहे, उन्होंने इन भेदों को अपनाया है।

मालोपमा

यदि एक उपमेय की अनेक उपमानों से समता दिखायी जाय तो मालोपमा होती है।†

मालोपमा का अर्थ है माला-रूप उपमा। तात्पर्य यह कि

† मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। सा० द०

जहाँ एक उपमान के बदले उपमानों की माला हो—अनेक उपमान कहे जायँ वहाँ मालोपमा होती है।

मालोपमा तीन प्रकार से संभव है :—

(१) **समानधर्मा** अर्थात् जहाँ अनेक उपमानों का साधारण धर्म एक ही हो। समानधर्मा को एकधर्मा भी कहते हैं।

(२) भिन्नधर्मा—जहाँ उन उपमानों के भिन्न-भिन्न साधारण धर्म हों।

(३) लुप्तधर्मा—जिसमें साधारण धर्म का कथन ही न हो।

१ समानधर्मा

सिंहनी सी काननों में, योगिनी सी शैलों में,
शफरी सी जल में, विहंगिनी सी व्योम में,
जाती तभी और उन्हें खोजकर लाती मैं। यशोधरा

यहाँ एक यशोधरा (उपमेय) की सिंहनी, योगिनी, शफरी और विहंगिनी इन अनेक उपमानों से उपमा दी गयी है और सबों का साधारण धर्म है 'जाती', इसलिये समानधर्मा मालोपमा है।

हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहिं, हरिहिं श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहिं सिय समरपी विश्व-कल-कीरति नई॥

यहाँ जनक की हिमालय और सागर से, राम की शिव और विष्णु से तथा सीता की पार्वती और लक्ष्मी से समता दिखायी गयी है और साधारण धर्म एक ही है देना, सौंपना अर्थात् व्याहना।

पन्नग-समूह में गरुड़ सदृश,
तृण में विकराल कृशानु सदृश,
राणा भी रण में कूद पड़ा,
घन अन्धकार में भानु सदृश। हल्दीघाटी

यहाँ राणा प्रताप एक उपमेय—के लिये गरुड़, कृशानु, (अग्नि) और सूर्य ये तीन उपमान कहे गये हैं और सबों का साधारण धर्म एक है, 'कूद पड़ना'।

२ भिन्नधर्मा

सफरी से चंचल घने, मृग से पीन सुदेन।
कमलपत्र से चारु ये राधाजू के नैन॥

यहाँ राधा के नेत्रों के लिये अनेक उपमान शफरी (मछली), मृग और कमलदल कहे गये हैं पर सबों के साधारण धर्म भिन्न हैं; शफरी के जैसे चंचल, मृगनेत्रों के ऐसे विशाल और कमल-दल के सदृश सुंदर। इस प्रकार विभिन्न साधर्म्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न उपमानों से उपमा दी गयी है।

मरुत-कोटि-सत बिपुल बल, रबि-सत-कोटि प्रकास।
ससि-सत-कोटि सो सीतल, समन सकल भव-त्रास।

यहाँ राम के बल, प्रकाश और शीतलता इन साधर्म्यों के आधार पर मरुत, सूर्य और चंद्रमा से समता दिखायी गयी है।

कभी लोभ-सी लंबी होकर,
कभी तृप्ति-सी होकर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम
सजनि ! नापती हो स्थिति-हीन ?—पंत

यहाँ 'छाया' की उपमा लोभ और तृप्ति से दी गयी है पर लोभ से समता के लिये 'लंबा होना' साधारण धर्म है और तृप्ति से समता के लिये 'पीन होना'। इस तरह यहाँ भी भिन्न-धर्मा मालोपमा है।

२ लुप्तधर्मा

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल-भाषा-सी,
कटीछँटी नव-कविता-सी ; —पंत

यहाँ एक छाया के अनेक उपमान हैं पर साधारण धर्म का कथन नहीं है।

मदिरा की मादकता-सी औ
वृद्धावस्था की स्मृति-सी,
दर्शन की अति जटिल-ग्रंथि-सी,
शैशव की निद्रित-स्मिति-सी ; —पंत

यहाँ भी छाया के अनेक उपमान हैं पर सबके साधर्म्य लुप्त हैं।

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर
रावण सदंभ पर रघुकुलराज है।

भूषण का यह पद्य भी लुप्तधर्मा मालोपमा का उदाहरण है जिसमें एक शिवाजी के अनेक उपमान कहे गये हैं पर साधर्म्यों का कथन नहीं है।

रशनोपमा

यदि उत्तरोत्तर उपमेय उपमान बनता चले तो रशनोपमा अलङ्कार होता है ।†

रशना का अर्थ है करधनी—कमरकस । जिस प्रकार रशना—करधनी—में अनेक कड़ियों की लड़ी बनी रहती है उसी प्रकार इस अलंकार में अनेक वस्तुएँ उपमेय-उपमान के रूप में परस्पर एक शृंखला-सी बनाती हैं, इसीलिये इसे रशनोपमा कहते हैं। हिंदी के प्रायः सभी अलंकार-ग्रन्थों में 'रसनोपमा' लिखा रहता है। वह पाठ भी हो सकता है पर 'रशनोपमा' ही अधिक उचित है क्योंकि रसना जीभ के ही अर्थ में अधिक व्यवहृत होती है।

मति सी नति१, नति सी बिनति, बिनती सी रति२ चारु।
रति सी गति, गति सी भगति, तो मैं पवन-कुमारु॥

यहाँ 'मति सी नति' में नति जो उपमेय है वही अगली उपमा—'नति सी बिनति'—में उपमान बन गयी है। इसी प्रकार सारे पद्य में पहली उपमा का उपमेय अगली उपमा के लिये उपमान बनता गया है अतः रशनोपमा है।

मुकुर सम विधु, बिधु सरिस मुख, मुख समान सरोज।

यहाँ भी पूर्व उपमा का उपमेय अग्रिम उपमा का क्रमशः उपमान होता गया है।

कुल सी काया, काय सी चित-चतुराई-बाल ।
चित-चतुराई सी चखनि मोहनि मदनगोपाल !

---

† कथिता रशनोपमा यथोर्द्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता । सा० द०

१ नम्रता। २ प्रेम।

यहाँ 'कुल सी काया' में काया उपमेय है पर वही अगली उपमा में उपमान बनी है और उसका उपमेय 'चित-चतुराई' अगली उपमा के लिये उपमान बन गया है। इस प्रकार यहाँ भी रशनोपमा है।

समुच्चयोपमा

यदि अनेक साधर्म्यों का समुच्चय (समूह) हो तो समुच्चयोपमा होती है।

समुच्चय का अर्थ है समूह। उपमा में प्रायः एक ही साधारण धर्म को लेकर उपमान से उपमेय की समता बतायी जाती है। जैसे 'मुख चंद्र सा सुंदर है' यहाँ मुख और चंद्र के सादृश्य का प्रतिपादक 'सुन्दर' यह एक ही साधारण धर्म है। यदि इसे ही ऐसे कहें कि 'मुख चंद्र सा सुन्दर, गोल और चमकीला है' तो यही समुच्चयोपमा का उदाहरण हो जायगा क्योंकि यहाँ अनेक साधारण धर्मों—सुन्दर, गोल, चमकीला—का समुच्चय (समूह) कथित है।

हरि-छबि-जल जब तें परे तब तें छिन बिछुरैं न।
भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहट-घरी लौं नैन॥

यहाँ रहट की घरियों से नेत्रों की उपमा देने में चार साधारण धर्म हैं—भरत, ढरत, बूड़त और तिरत; इसलिये समुच्चयोपमा है।

रूप, रंग औ सुरभि में वह चंपक सी बाल।

यहाँ चंपक से बाला की उपमा के निष्पादक तीन साधारण धर्म रूप, रंग और सुरभि हैं। अतः समुच्चयोपमा है।

लक्ष्योपमा

यदि उपमा के वाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग न कर लाक्षणिक शब्द की सहायता से सादृश्य का बोध कराया जाय तो उसे लक्ष्योपमा कहते हैं।

'मुख चंद्र सा सुन्दर है' ऐसे वाक्यों में सादृश्यवाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग रहता है, जैसे यहाँ 'सा' है। इसे ही यदि इस प्रकार कहें कि 'मुख चंद्र से सुन्दरता में होड़ ले रहा है' या 'मुख चंद्र की चारुता को चुरा रहा है' तो यहाँ मुख और चंद्र के सादृश्य का साक्षात् वाचक कोई शब्द नहीं है बल्कि 'होड़ ले रहा है' या 'चुरा रहा है' के द्वारा लक्षणा से सादृश्य का बोध होता है। तात्पर्य इन वाक्यों का भी यही है कि 'मुख चंद्र सा सुन्दर है' पर उसे अभिधा से न कहकर लक्षणा से कहा गया है, इसलिये इसे लक्ष्योपमा कहते हैं।

> इन आँगुरियाँ अलि! गंध, गुराई
> गुलाबन की छवि छीनि लई।

नायिका की उँगलियों ने गुलाब की गंध और रंग छीन लिया अर्थात् उँगलियाँ गुलाब के समान सुगंधियुक्त और रक्तवर्ण हैं। यहाँ 'छीन लई' के द्वारा सादृश्य का बोध कराया गया है।

> देख रही मैं तो निराली यह बात आली!
> किसलय की लाली चुराली तेरे करने।

यहाँ 'कर ने किसलय (नवपल्लव) की लाली चुराली' का अर्थ है कि कर किसलय के समान लाल है। 'चुराली' के द्वारा सादृश्य लक्षित हो रहा है अतः लक्ष्योपमा है।

अनन्वय

एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान दोनों कहना अनन्वय अलङ्कार है।†

अन्वय कहते हैं संबन्ध को इसलिये अनन्वय (न+अन्वय) का अर्थ होगा जिसका संबन्ध किसी से न हो। अन्वय सापेक्ष शब्द है; बिना दो के अन्वय या संबन्ध की कल्पना नहीं हो सकती। संबन्ध में सदा द्वित्व (दो) की भावना छिपी रहती है। किसी एक का किसी दूसरे से संबन्ध होता है—अपना संबन्ध अपने से ही नहीं होता। अनन्वय में उसी अन्वय या संबन्ध का अभाव रहता है; इसमें कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के सदृश नहीं बतलायी जाकर अपने ही सदृश कही जाती है। इसका अभिप्राय रहता है उस पदार्थ की अलौकिकता—अद्वितीयता प्रकट करना। जैसे कोई कहे कि 'गाँधीजी को उपमा किससे दें ? वे अपने समान आप ही हैं' तो यहाँ म० गाँधी की लोकोत्तरता सूचित होती है। ऐसे ही चमत्कारयुक्त वाक्य को अनन्वयालङ्कार कहेंगे।

कोई गंगा का वर्णन करते हुए कहता है

अधम उधारन में, धारन में दीनन को
करनी सुधारन में तोसी तुही देखी मैं।

यहाँ 'तोसी तुही'—तेरे समान तू ही—कह कर गंगा को ही उपमेय और उपमान दोनों बनाया गया है, इसलिये अनन्वय है।

---

† उपमानोपमेयत्वम् एकस्यैव त्वनन्वयः। सा० द०

राम से राम सिया सी सिया
सिरमौर बिरंचि बिचारि सँवारे।

यहाँ राम और सीता को उपमेय और उपमान दोनों बनाया गया है अतः अनन्वयालङ्कार है। ऐसे कथन से राम और सीता की अनुपमता जताना कवि का उद्देश्य है।

सुमिरि गंग, कहि गंग, गंग-संगति अभिलाखत
मानि गंग सम गंग, रंग कविता को राखत।—रत्नाकर

यहाँ भी गंगा के समान गंगा ही का कथन है।

मारिबे जिवाइबे कों, उपमा लजाइबे कों
तेरी अँखियाँ सी प्यारी ! तेरी दोनों अँखियाँ।

यहाँ भी आंखें ही उपमेय और उपमान दोनों हैं।

उपमेयोपमा

उपमेय और उपमान को परस्पर एक दूसरे का उपमान और उपमेय कहना उपमेयोपमालंकार है।†

इसमें उपमेय से उपमान को और उपमान से उपमेय की उपमा दी जाती है; औपम्यनिर्वाह के लिये कोई तीसरी वस्तु नहीं रखी जाती। जैसे 'मुख सा चंद्र और चंद्र सा मुख सुंदर है', यहाँ मुख और चंद्र परस्पर उपमेय तथा उपमान बनते हैं। दण्डी ने उपमा के जो अनंत भेद गिनाये हैं उनमें ही अन्योन्योपमा के नाम से इसे भी रखा है—इसे स्वतंत्र अलंकार नहीं माना है। यह उपमा के भेदों में गतार्थ हो सकती है इसमें कोई

† पर्यायेण द्वयोरेतद् उपमेयोपमा मता। सा० द०

संदेह नहीं पर मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे अलग ही स्थान दिया है। यह अपना-अपना रुचिभेद है और दोनों पक्ष उचित हैं।

कुवलय से लोचन मंजु लोचन से कुलवय हैं।*

यहाँ एक बार कुवलय से लोचन की और दूसरी बार लोचन से कुवलय की उपमा देकर उन्हें परस्पर एक दूसरे का उपमेय और उपमान बनाया गया है, अतः उपमेयोपमा अलंकार है।

तो मुख सो ससि सोहत है अरु सोहत है ससि सो मुख तेरो।

यहाँ भी मुख और चंद्रमा की परस्पर एक दूसरे से उपमा दी गयी है।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में साधर्म्य वाच्य है—प्रथम में 'मंजु' और द्वितीय में 'सोहत' पद से।

कहीं कहीं साधर्म्य व्यङ्ग्य भी रहता है, जैसे :—

साधु-बचन-सम है सुधा, बचन सुधा-सम जान।

यहाँ 'मधुर' आदि साधर्म्य का कथन नहीं है–वह व्यङ्ग्य है।

कहीं वस्तु-प्रतिवस्तुभाव में भी उपमेयोपमा होती है जिसमें एक ही साधारण धर्म दो वाक्यों में कहा जाता है।

सोभित कुसुमस्तवक सम, बिलसित कुचजुग धारि।
बनितासी लतिका लसति, बनिता लतानुहारि॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'सोभित' और 'विलसित' इन दो पदों से एक ही धर्म का कथन है—केवल शब्दभेद है पर अर्थ एक ही है। यही वस्तु-प्रतिवस्तुभाव कहलाता है। उत्तरार्द्ध में 'वनिता सी

लता और लता सी वनिता' में उपमेयोपमा स्पष्ट है। यहाँ 'लसति' से साधर्म्य वाच्य है।

यह मालारूप भी संभव है। जैसे:—

सब मन-रंजन हैं खंजन से नैन आली
नैनन से खंजन हू लागत चपल हैं।
मीनन से महा मनमोहन हैं मोहिबे को
मीन इनही से नीके सोहत अमल हैं।
मृगन के लोचन से लोचन हैं रोचन ये,
मृग दृग इनहीं से सोहैं पलापल हैं।
'सूरति' निहारि देखी, नीके परी प्यारी जू के
कमल से नैन अरु नैन से कमल हैं।

—सूरति मिश्र

प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना प्रतीप अलङ्कार है।†

प्रतीप का अर्थ है उलटा—विपरीत। इस अलङ्कार में उपमेय उपमान का संबन्ध उलट दिया जाता है। उपमा अलंकार में प्रसिद्ध उपमान से उपमेय की समता दिखाते हैं; यही उपमेय-उपमान का स्वाभाविक और प्रसिद्ध संबन्ध है पर प्रतीप में इसके विपरीत उपमेय ही के सदृश उपमान को कहा जाता है। जैसे साधारणतः कहते हैं कि 'चंद्र सा मुख है' तो यहाँ उपमा होती है और यदि इसे ही उलट कर कहें कि 'मुख सा चंद्र है' तो यह

† प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते। सा० द०

प्रतीप का उदाहरण हो जाता है। इसका तात्पर्य रहता है उपमेय का अतिशय उत्कर्ष सूचित करना। उपमेय-उपमान के संबन्ध-विपर्यय के कारण ही इसे प्रतीप कहते हैं।

कुछ आलंकारिकों ने प्रतीप के दो, कुछ ने तीन और कुछ ने पाँच भेद माने हैं। व्यापकता की दृष्टि से यहाँ पाँचों भेदों का उल्लेख कर दिया जाता है।

प्रथम प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना।

तो पद से अनुमानि, तरुन अमल कोरे कमल।
याही ते सनमानि, अवतंसित मोहन करे॥

राधा के चरणों के समान कमलों को समझकर कृष्ण ने उन्हें कर्णाभरण बनाया। यहाँ चरण से उपमा देकर प्रसिद्ध उपमान कमल को उपमेय बनाया गया है, इसलिये प्रतीप है।

ऐसी बाल लाल हों तिहारे लिये लाऊँ जाके
अंग ओप सी उजेरी, आनन सो इंदु है।

अंगदीप्ति के समान चाँदनी और मुख के समान चन्द्रमा के कथन द्वारा प्रसिद्ध उपमान की उपमेयता प्रतिपादित की गयी है।

संध्या फूली परम प्रिय की कांति सी है दिखाती,
मैं पाती हूँ रजनितन में श्याम का रंग छाया।
ऊषा आती प्रतिदिवस है प्रीति से रंजिता हो,
पाया जाता वर बदन सा ओप आदित्य में है। प्रि० प्र०

यहाँ भी प्रसिद्ध उपमान संध्या आदि को उपमेय कृष्ण की कांति आदि के समान कहने से प्रतीप है।

द्वितीय प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के सदृश कह कर वास्तविक उपमेय का अनादर करना।

अरी सुनयने ! इन नयनों पर क्या फूली फिरती है ?
इन्हीं सदृश इन्दीवर-श्रेणी प्रति सर में तिरती है।*

प्रसिद्ध उपमान इन्दीवर को नायिका के नेत्रों के सदृश कहकर उसे उपमेय बनाया गया है और उसके द्वारा 'इन नयनों पर फूली मत फिर' इस रूप से उपमेय का अनादर कराया गया है, अतः प्रतीप का द्वितीय भेद है।

छिपा रही घूँघट में सुंदरि ! क्या अपना आनन तू !
आनन सा ही चंद्र चमकता ऊपर फेर नयन तू !*

'जिस मुख को अलौलिक शोभा संपन्न समझ कर तू घूँघट में छिपा रही है उसी के समान यह चंद्रमा ऊपर चमक रहा है, जरा देख भी ! फिर यह नाज कैसा कि तेरा मुख अद्वितीय है।' मुख के समान चंद्र को कह कर मुख का अनादर किया गया है।

चंपक चामीकर[1] तड़ित[2] तव तनु सरिस समर्थ।
यह जिय जानि अजान तिय गरब गुमान निरर्थ॥

'तेरे शरीर की आभा के सदृश चंपा, सोना और बिजली हैं ही फिर तू घमंड किस बात का करती है?' यहाँ भी प्रसिद्ध उपमान चंपक, सोना और बिजली को शरीर के समान कहकर उन्हें उपमेय बनाया गया है और उनके रहते 'तेरा अपनी कांति पर इतराना व्यर्थ है' इस प्रकार उपमेय का अनादर सूचित होता है।

---

१ सोना। २ बिजली।

तृतीय प्रतीप

प्रसिद्ध उपमेय को उपमान के सदृश कह कर प्रसिद्ध उपमान का अनादर करना।

अवनि! हिमाद्रि! समुद्र! जनि करहु वृथा अभिमान।
सांत, धीर, गम्भीर हैं तुम सम राम सुजान॥

यहाँ प्रसिद्ध उपमेय राम को उपमान—अवनि, हिमाद्रि और समुद्र के सदृश बताकर इन तीनों उपमानों का अनादर किया गया है।

हालाहल! मत गर्व कर हूँ मैं क्रूर अपार।
क्या न अरे तेरे सदृश खल-जन-वचन-विचार॥

यहाँ प्रसिद्ध उपमेय दुर्जन-वचन को उपमान हालाहल के सदृश बताकर उसका (उपमान हालाहल) का अनादर किया गया है।

चतुर्थ प्रतीप

उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कहना।

तुव मुख के सम ह्वै सकत कहा बिचारो चंद?

यहाँ चंद्रमा को मुख की उपमा के अयोग्य बताया गया है।

बहुरि बिचार कीन्ह मनमाही। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥

यहाँ भी 'सीता के मुख के समान चंद्रमा नहीं है' यह कह-कर उपमा के लिये उसकी अयोग्यता कही गयी है।

मंदबुद्धि कवि ये कैसे अपनी ही बात न जानें।
वे मुख को विधु सा कहते सखि! कह कैसे हम मानें!*

यहाँ भी 'मुख को चंद्र सा बताना अमान्य है' इस कथन के द्वारा मुख की उपमा के लिये चंद्र की अयोग्यता सूचित होती है।

पंचम प्रतीप

उपमान का कैमर्थ्य द्वारा आक्षेप या उसकी निष्फलता कहना।

कैमर्थ्य का रूप है—'उसका क्या प्रयोजन, उसकी क्या आवश्यकता,' जैसे मुख के रहते चंद्र की क्या आवश्यकता है?

तेरा मुख शोभित यहाँ, उदित हुआ क्यों चंद्र?

यहाँ तेरे मुख के रहते चंद्रमा की क्या आवश्यकता है अर्थात् मुख ही चंद्र का कार्य कर रहा है, इस प्रकार उपमान का कैमर्थ्य से आक्षेप है।

अमिय झरत चहुं ओर ते, नयन ताप हरि लेत।
राधा जू को बदन अस, चंद उदय केहि हेत॥

चंद्रमा से अमृत बरसता है और नयनों को शीतलता मिलती है। राधा के मुख से भी अमृत बरस रहा है और नेत्र जुड़ा जाते हैं, फिर चंद्रमा के उदय होने की क्या आवश्यकता?

परिमलपूरित, पीत, मृदु, मंजु राधिका गात।
अब अलि! चंपकफूल की भूलि न कीजिय बात॥

सुगंध, पीतवर्ण, कोमल और सुंदर जब राधा का शरीर है ही तो चंपकपुष्प की चर्चा व्यर्थ है। आखिर इन्हीं गुणों के लिये न उसकी याद करते हैं तो ये गुण तो उसके बिना भी प्राप्त हैं, फिर उसकी चर्चा की क्या आवश्यकता?

प्रतीप के ५ भेदों में संक्षेप में ये प्रधान बातें रहती हैं जिन्हें मनोगत कर लेने से इसके भेदों को याद करना सुगम होगा—

१. उपमान को उपमेय बनाना।

२. उपमेय का अनादर।

३. उपमान का अनादर।

४. उपमान की अयोग्यता।

५. उपमान की व्यर्थता।

रूपक

उपमेय में उपमान के निषेधरहित आरोप को रूपक कहते हैं।†

आरोप का अर्थ है एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु को इस प्रकार रखना कि दोनों अभिन्न मालूम हों—दोनों का अंतर न दिखाई पड़े। जैसे 'मुख चंद्र है' यहाँ मुख में चन्द्र का आरोप है; मुख और चंद्र के भेद या पार्थक्य को मिटा कर दोनों को अभिन्नतया वर्णन किया गया है अर्थात् दोनों को सर्वथा एक कर दिया गया है। कहनेवाले का तात्पर्य यह है कि मुख और चंद्र एक ही हैं। आरोप को अभेद और तादात्म्य भी कहते हैं।

लक्षण में 'निषेधरहित' इसलिये कहा गया है कि अपह्नुति अलङ्कार में भी उपमेय में उपमान का आरोप ही रहता है पर वह निषेधसहित रहता है और रूपक में निषेधरहित।

उपमा में उपमेय-उपमान के बीच सादृश्य की भावना उत्कट रहती है और रूपक में तादात्म्य अथवा अभेद की। इसलिये एक आलंकारिक ने कहा है कि "उपमैव तिरोभूतभेदा रूपक-

† प्रस्तुतेऽप्रस्तुतारोपो रूपकं निरपह्नवे।

मुच्यते" अर्थात् भेद मिटा देने पर उपमा ही रूपक कहलाने लगती है।

उपमा ही के समान रूपक भी बड़ा व्यापक अलंकार है।

रूपक के तीन प्रमुख भेद हैं :—

(१) निरङ्ग

(२) साङ्ग

(३) परम्परित।

कुछ लोग इन तीनों को अभेद रूपक नाम से एक श्रेणी में रख कर ताद्रूप्य रूपक नाम के एक दूसरे भेद की कल्पना करते हैं। इस प्रकार उनके कथनानुसार रूपक के पहले दो भेद हुए—(१) अभेद और (२) ताद्रूप्य; फिर अभेद के पूर्वोक्त तीन भेद।

निरङ्ग

जहाँ अंगों के बिना केवल उपमान का उपमेय में आरोप हो वहाँ निरङ्ग रूपक होता है।†

वस्तुतः एक उपमेय में एक उपमान का आरोप निरङ्ग रूपक कहलाता है। रूपक के भेदों में सर्वाधिक इसीका प्रचार है। "मुखचंद्र" "चरणकमल" आदि इसी के उदाहरण हैं। इसके दो भेद हैं केवल या शुद्ध और मालारूप।

शुद्ध या केवल :—यदि एक उपमेय में एक उपमान का आरोप हो।

श्री गुरु-पद-नख-मनि-गन जोती। सुमिरत दिव्यदृष्टि हिय होती॥

यहाँ उपमेय (गुरुचरण के नखों) में उपमान (मणिगण) का आरोप है अतः निरङ्ग रूपक है।

---

† निरङ्गं केवलस्यैव रूपणम्। सा० द०

बन्दौं गुरु-पद-कंज·········।

यहाँ उपमेय (पद = चरण) में उपमान (कंज = कमल) का आरोप है।

रामचरित-सर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें॥

यहाँ उपमेय (रामचरित) में उपमान (सर) का आरोप है।

प्रिय पति ! वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ?
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है ? प्रि० प्र०

यहाँ दुख में जलनिधि (समुद्र) का आरोप होने से निरंग रूपक अलङ्कार है।

ऊपर के उदाहरण सामानाधिकरण्य के हैं।

वैयधिकरण्य में भी रूपक होता है जैसे—

नयन-नीलिमा के लघु नभ में। —पंत

यहाँ नयन-नीलिमा (उपमेय) में लघु नभ का आरोप है पर वह षष्ठीद्वारा कहा गया है।

रोमावलि की शरशय्या में।

अर्थात् रोमावलि रूप शरशय्या में।

षष्ठी के चिह्नों द्वारा निष्पन्न रूपक के बहुत अधिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

मालारूप—यदि एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप हो तो मालारूप निरंग रूपक होता है।

ओ अकूल की उज्ज्वल हास !
अरी अतल की पुलकित श्वास !
महानन्द की मधुर उमङ्ग !
चिर शाश्वत की अस्थिर लास ! —पंत

यहाँ एक 'वीचिविलास' में हास, श्वास, उमङ्ग, लास आदि अनेक उपमानों का आरोप है, अतः मालारूप निरङ्ग-रूपक है।

अहे अनभ्र-गगन के जलकण !
ज्योति-बीज, हिमजल के घन।
बीते दिवसों की समाधि हे !
प्रातः-विस्मृत स्वप्न सघन ! —पंत

यहाँ एक नक्षत्र में अनेक उपमानों जलकण, ज्योतिबीज, हिमजल के घन आदि का आरोप होने से मालारूप निरङ्ग है।

मालारूप निरङ्ग का सबसे बड़ा उदाहरण पंतजी की 'नक्षत्र' नामक कविता है। वस्तुतः उसमें निरङ्ग के सिवा और कुछ है ही नहीं। सुंदर-असुंदर, संभव-असंभव, सभी प्रकार के आरोप इस कविता में वर्त्तमान हैं।

छेम की छहर, गंग ! रावरी लहर
कलिकाल को कहर, जमजाल को जहर है। पद्माकर

यहाँ एक गंगा की लहर में अनेक उपमानों का आरोप है। यह पूरा कवित्त भी मालारूप निरङ्ग का उदाहरण है।

साङ्ग (सावयव)

जहाँ अंगों-सहित उपमान का उपमेय में आरोप किया जाय वहाँ साङ्ग या सावयव रूपक होता है।†

साङ्ग रूपक में किसी एक आरोप की प्रधानता रहती है, उसे अंगी कहते हैं और शेष गौण रूपसे उसके अंग होकर आते हैं। जिस प्रकार किसी अंगी (प्रधान) के साथ उसके अंग

---

† अंगिनो यदि सांगस्य रूपणं सांगमेव तत्। सा० द०

भी देखे जाते हैं उसी प्रकार साङ्ग रूपक में एक प्रधान आरोप के आधार पर कुछ और आरोप होते हैं जो उसके अंग से दीखते हैं। जैसे "आकाश-सरोवर में सूर्य-हंस तारक-मौक्तिकों को चुन रहा है" यहाँ आकाश अंगी है—प्रधान है क्योंकि उसी में सूर्य और तारक रहते हैं, इसलिये वे अङ्ग हुए। उसी प्रकार सरोवर में हंस और मौक्तिक का निवास है, इसलिये सरोवर अंगी और हंस तथा मौक्तिक अंग कहे जायँगे। यहाँ केवल आकाश में केवल सरोवर का आरोप नहीं हैं अपितु आकाश भी अपने अंगों (सूर्य और तारक) के साथ है और उपमान सरोवर भी अपने अंगों (हंस और मौक्तिक) के साथ है और तब दोनों का परस्पर आरोप हुआ है:—

उपमेय	उपमान
(१) आकाश	(१) सरोवर
(२) सूर्य	(२) हंस
(३) तारक	(३) मौक्तिक

इसलिये इसे साङ्ग रूपक कहेंगे।

साङ्ग रूपक के दो भेद हैं (१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेशविवर्त्ती।

समस्तवस्तुविषय उसे कहते हैं जहाँ सभी आरोप शब्द द्वारा कहे गये हों, और एकदेशविवर्त्ती उसे जहाँ कोई आरोप शाब्द न होकर आर्थ हो, जिसे शब्द द्वारा कहा नहीं गया हो बल्कि उसका आक्षेप हो जाता हो।

रनित भृंग-घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद-मंद आवतु चल्यो, कुंजर-कुंज-समीर॥

यहाँ घंटावली और मदजल (अंगों) से युक्त हाथी (अंगी) उपमान है (हाथी को ही घंटे और मदजल होते हैं अतः वह

प्रधान और ये अंग) और उसका भृंग और मकरंद (अंगों) से युक्त कुंजसमीर (अंगी) उपमेय में आरोप है। अतः अंगों सहित उपमेय में अंगों सहित उपमान का आरोप होने से साङ्ग रूपक है।

नारि-कुमुदिनी अवध-सर, रघुबरबिरह-दिनेस।
अस्त भये प्रमुदित भईं, निरखि राम-राकेस॥

यहाँ वनवास की अवधि बीतने पर राम को देख अयोध्या की नारियों का प्रसन्न होना साङ्ग रूपक की सहायता से वर्णित है।

अवध	सर
नारि	कुमुदिनी
(रघुबर) विरह	दिनेस (सूर्य)
राम	राकेस (चंद्रमा)

सरोवर की कुमुदिनियाँ सूर्य से मुरझाई रहती हैं पर उसके अस्त हो जाने पर चंद्रमा को देखकर प्रमुदित हो जाती हैं। इधर अयोध्या की नारियाँ राम के वनवास जन्य विरह से उदास थीं जिसके अंत हो जाने पर राम को देख अत्यंत आनंदित हो गयी हैं। यहाँ भी अंगों सहित उपमेय और उपमान का परस्पर अभेद-प्रतिपादन होने से साङ्ग रूपक है।

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी।

यहाँ भी ऊषा में नागरी का आरोप, अम्बर में पनघट और तारा में घट (अंगों) के आरोप के साथ है; अतः समस्तवस्तुविषय साङ्ग रूपक है।

ऊधो मेरा हृदयतल था एक उद्यान न्यारा।
शोभा देतीं अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं।

प्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी सुखकारी महा थे॥

यहाँ हृदयतल में उद्यान का आरोप मुख्य है; उसके साथ दोनों के अंगों का भी आरोप है (हृदय में कल्पना, भाव और उत्साह रहते हैं तथा उद्यान में क्यारियाँ, कुसुम और विटपी)।

उपमेय	उपमान
हृदयतल	उद्यान
कल्पना	क्यारियाँ
भाव	कुसुम
उत्साह	विटपी (वृक्ष)

यहाँ तृतीय-चतुर्थ चरणों में वैयधिकरण्य से रूपक है।

एकदेशविवर्ती

जहाँ समस्तवस्तुविषय में ही किसी एक आरोप का शब्दतः कथन न हो।

शिशुता की निशा सिरानी, उग आया यौवन-दिनकर।
छवि विकसित तन-सरवर में दो सरसिज लसे मनोहर। नूरजहाँ

यहाँ शिशुता में निशा, यौवन में दिनकर, तन में सरोवर का शाब्द आरोप है पर सरसिज के साथ उसके उपमेय स्तन का शब्दतः कथन नहीं है लेकिन उसका सहज ही आक्षेप हो जाता है। यदि यही सरसिज के साथ स्तन का भी शाब्द आरोप रहता तो यही उदाहरण 'समस्तवस्तुविषय' का हो जाता।

प्रभात यौवन है वक्ष-सर में
कमल भी विकसित हुआ है कैसा। नूर०

यहाँ भी यौवन में प्रभात का, वक्ष में सरोवर का शाब्द

आरोप है पर कमल से केवल उपमान का कथन है, स्तन उपमेय का आरोप आर्थ है।

रूप-सलिल अति चपल चख, नाभि भँवर गंभीर।
है बनिता सरिता बिपम जहँ मज्जत मतिधीर॥

यहाँ नायिका में नदी, (उसके) रूप में सलिल और नाभि में भँवर का शब्दतः आरोप है पर चख (नेत्र) में मछली का आरोप आर्थ ही है—उसका शब्द द्वारा कथन नहीं है; अतः इसे एकदेशविवर्ती रूपक कहेंगे।

परम्परित

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो वहाँ परम्परित रूपक होता है।†

परम्परा का अर्थ है शृंखला। इसमें कई आरोपों में शृंखला सी बँधी होती है; एक आरोप के ऊपर दूसरा आरोप टिका रहता है; यदि उस आरोप को हटा दें, तो दूसरा एकदम निरर्थक हो जायगा—वह व्यर्थ का शब्दाडम्बरमात्र दीखेगा। परम्परित में उपमेय में उपमान का आरोप स्वतः या स्वाभाविक किसी साम्य के आधार पर नहीं रहता—उसकी साम्यभावना बहुत दूरारूढ़ और पारस्परिकतानुबन्धी होती है। 'मुख चंद्र' में 'आह्लादकत्व' और 'प्रकाशकत्व' रूप धर्म उभयनिष्ठ है, इसलिये मुख और चंद्र को अभिन्नतया वर्णन करना असंगत या अस्वाभाविक नहीं मालूम पड़ता। मुख का अतिशय सौन्दर्य व्यक्त करने के लिये सारोपा लक्षणा की सहायता से चंद्र के

---

† यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्
तत् परम्परितम्। सा० द०

साथ उसका अभेद-प्रतिपादन किया जाता है। तो यहाँ मुख और चंद्र में परस्पर स्वतः भी सादृश्य है। पर यदि कोई किसी राजा की प्रशंसा में कहे कि "राजन्! खल-वन के लिये आप दावाग्नि हैं" तो यहाँ खल और वन में तथा राजा और दावाग्नि में तो कोई भी व्यक्त साम्य नहीं है। पर चूँकि खल में वन का आरोप किया गया है, इसीलिये राजा में दावाग्नि का आरोप हुआ है और वक्ता के कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दावाग्नि बिना किसी प्रयास के समूल और अविलंबित वन को नष्ट कर डालती है, उसी प्रकार तुम भी अनायास और शीघ्र ही खलों को उन्मूलित कर देते हो। इस प्रकार खल और वन तथा राजा और दावाग्नि में परस्पर साम्य कहाँ है? पर दोनों को परस्पर मिलाकर देखने से उनकी सादृश्य-भावना निकलती है। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि परम्परित की सादृश्य-भावना स्वतः सिद्ध न होकर दूरारूढ़ और पारस्परिकतानुबंधी होती है—दोनों आरोप (बिना दो के परम्परित होगा ही नहीं) आपस में मिलकर एक दूसरे को सार्थक बनाते हैं—अलग-अलग स्वतंत्र रूप में वे निरर्थक से लगते हैं।

परम्परित रूपक के दो भेद हैं :—

(१) केवलरूप—जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो।

(२) मालारूप—जहाँ ऐसे आरोपों की शृंखला सी बन गयी हो अर्थात् जहाँ दो से अधिक आरोप रहें।

केवलरूप—

रामनाम सुंदर करतारी। संसय-बिहग उड़ावन हारी॥

यहाँ संशय में विहग का आरोप रामनाम में करताली

(ताली) के आरोप का कारण है। संशय को विहग (पक्षी) मान लेने से रामनाम को ताली कहना उपयुक्त होगा और उसके अर्थ का स्वारस्य यह होगा कि जैसे हाथ की ताली सुनते ही पक्षी उड़ जाते हैं वैसे ही रामनाम के उच्चारणमात्र से मन के सारे संदेह दूर हो जाते हैं। तो यहाँ रामनाम और करताली या संशय और विहग में स्वत: कोई समता नहीं है पर एक आरोप के द्वारा दूसरा आरोप भी सार्थक बन जाता है।

दो आँसू-तारक चख-नभ से अकस्मात् ही टूट पड़े।
टपक पड़े कुमार दृग से भी अश्रुबिन्दु दो बड़े-बड़े। नूर०

यहाँ आँसू को तारक मानने में नेत्र को नभ मानना आरोप की सार्थकता के लिये आवश्यक है।

या भव-पारावार को उलँघि पार को जाय।
तियछबि-छायाग्राहिनी गहै बीच ही आय॥

यहाँ भव (संसार) में पारावार का आरोप स्त्रियों की सुन्दरता में छायाग्राहिणी के आरोप का कारण है, अत: परम्परित है।

मालारूप—

महा मोह घनपटल-प्रभंजन। संसय-बिपिन-अनल, सुररंजन।

यहाँ मोह (अज्ञान) में घन-पटल (मेघ-समूह) का आरोप राम में प्रभंजन (आंधी) के आरोप का कारण है। वैसे ही उत्तरार्द्ध में संशय में विपिन का आरोप राम में अनल (अग्नि) के आरोप का कारण है। एक राम में प्रभंजन और अनल का आरोप होने से मालारूप परम्परित है।

रामकथा कलि-पन्नग-भरनी। पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी।

यहाँ कलियुग को पन्नग (सर्प) कहना राम कथा को भरनी (सर्पमंत्र) कहने का कारण है। (जिस प्रकार मंत्र से सर्प का विष दूर होता है वैसे ही रामनाम से कलिकाल का दुष्प्रभाव पास नहीं फटकता)। फिर विवेक में अग्नि का आरोप रामकथा में अरनी (आग उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त काष्ठविशेष) के आरोप का कारण है (जिस प्रकार अरनी द्वारा अग्नि को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार रामकथा से विवेक की उत्पत्ति होती है)। तो राम कथा को अरनी या भरनी कहना तब तक उत्पन्न नहीं होता जबतक विवेक को पावक अथवा कलि को पन्नग न कह लें। इसीलिये परम्परित के लक्षण में कहा गया है कि एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है। यह भी उदाहरण मालारूप है।

बारिधि के कुंभज,[१] घन-बन[२] के दवानल,
तरुन तिमिर[३] हू के किरन समाज हौ।
कंस के कन्हैया, कामधेनु हू के कंटकाल,
कैटभ[४] के कालिका, बिहंगम[५] के बाज हौ।
'भूषन' भनत जग जालिम के शचीपति,[६]
पन्नग[७] के कुल के प्रबल पच्छिराज[८] हौ।
रावन के राम, सहस्रबाहु के परशुराम,
दिल्लीपति दिग्गज के सिंह सिवराज ! हौ॥

यहाँ भी दिल्लीपति में वारिधि आदि का आरोप शिवाजी में अगस्त्य आदि के आरोप का कारण है। बहुत आरोपों के कारण मालारूप है।

---

१ अगस्त्य मुनि। २ घना जंगल। ३ घोर अंधकार। ४ असुर विशेष। ५ पक्षी। ६ इन्द्र। ७ सर्प। ८ गरुड़।

कुछ आलंकारिकों ने केवल और मालारूप प्रत्येक परम्परित के दो-दो भेद और माने हैं—श्लिष्टशब्दमूलक और अश्लिष्ट-शब्दमूलक। पर ये दोनों भेद तर्कसंगत नहीं जँचते। प्रथम तो यह कि श्लेष की स्थिति या अभाव से किसी अलंकार के भेद निर्धारित करना उचित नहीं। यदि इस प्रकार भेद-निर्धारण करें तो श्लिष्टत्व-अश्लिष्टत्व के द्वारा सभी अलंकारों के दो-दो भेद करने चाहिये—श्लेष तो पुच्छ रूप से सभी अलंकारों में मिल सकता है पर कहीं भी इसके द्वारा भेद-कल्पना नहीं की गयी है। दूसरी बात यह है कि श्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित की सर्वात्मना अर्थालंकारिता ही संदिग्ध है। वहाँ चमत्कार का मूलाधार श्लेष है, न कि रूपक क्योंकि यदि श्लेष को हटा दें तो रूपक का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर मम्मट ने कहा है कि "यद्यपि इस (श्लेषात्मक रूपक) की गणना शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों में होती है और आगे ऐसा ही कहा भी जायगा; तथापि पूर्व आचार्यों में ऐसी प्रसिद्धि रहती चली आयी है, उसीके अनुसार यहाँ पर श्लिष्ट परम्परित रूपक की गणना अर्थालंकार ही में की गयी। कुछ लोग तो इसे एकदेशविवर्ति रूपक ही में गिनते हैं।"[1] इस तरह जिस श्लेषमूलक रूपक को अर्थालंकार में गिनने में ही मम्मट हिचकते हैं उसी को रूपक का अनिवार्य भेद मान लेना किस बुद्धि से समीचीन कहा जा सकता है? वह तो केवल प्राचीनता के प्रति आदर और आस्था ने ही उन्हें इसे स्वीकार करने को प्रेरित किया है। निष्कर्ष यह कि श्लेष जैसे सर्वत्र रह सकता है वैसे ही परम्परित में भी रहे

---

१ यद्यपि शब्दार्थालंकारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च, तथापिप्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः। एकदेशविवर्ति हीदमन्यैरभिधीयते। काव्यप्रकाश

पर उसे अनिवार्य भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिये यहाँ परम्परित के भेदों में उसकी गणना नहीं की गयी है।

उल्लेख

ज्ञातृ-भेद या विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन उल्लेख अलङ्कार कहलाता है।[1]

उल्लेख का शाब्दिक अर्थ तो है लिखना पर यहाँ वर्णन से तात्पर्य है। इस अलङ्कार में एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाता है। ऐसा दो तरह से हो सकता है :—

(१) ज्ञातृ-भेद से—जहाँ अनेक व्यक्ति एक वस्तु का, अपनी-अपनी भावना के अनुसार, अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

(२) विषय-भेद से—जहाँ एक व्यक्ति एक वस्तु का भिन्न-भिन्न गुणों के कारण अनेक प्रकार से वर्णन करता है।

१ ज्ञातृ-भेद द्वारा उल्लेख

अर्थिन को सुर-तरु दिसत, वैरिन को यमराज।
युवतिन दीसै पुहुपसर, साहिलनै सिवराज॥

यहाँ एक शिवाजी को याचक कल्पवृक्ष, शत्रु यमराज और युवतियाँ कामदेव समझती हैं। अतः एक वस्तु (शिवाजी) का अनेक प्रकार से वर्णन होने से उल्लेख अलङ्कार है। इसमें ज्ञातृ-भेद है—शिवाजी में अनेक व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की भावना रखते हैं।

---

[1] क्वचित् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥—सा० द०

आनति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति॥

प्रस्तुत नायिका को सौतें अनीति, सखियाँ सुनीति, गुरुजन लज्जा और प्रियतम प्रेम-रूप जानते हैं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार एक ही वस्तु (नायिका) को भिन्न-भिन्न व्यक्ति विभिन्न रूप से देखते हैं।

ऊपर के दोनों उदाहरण शुद्ध उल्लेख के हैं। यह अलङ्कारान्तर-मिश्रित भी होता है, जैसे धनुषयज्ञ के समय श्रीराम का निम्नलिखित वर्णन—

जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन्ह तैसी॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुं बीर रस धरे सरीरा॥
बिदुसन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥
जोगिन्ह परम-तत्त्वमय भासा। सांत-सुद्ध-सम सहज प्रकासा॥
हरिभगतन देखे दोउ भ्राता। इष्ट-देव इव सब-सुख-दाता॥

यहाँ एक राम को भिन्न-भिन्न लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार विभिन्न रूप में देखते हैं। इस उदाहरण में उल्लेख के साथ उत्प्रेक्षा और उपमा का भी मिश्रण है।

२ विषय-भेद द्वारा उल्लेख

वे छाया थीं सुजन शिर की, शासिका थीं खलों की,
कंगालों की परम निधि थीं, औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं भगिनि, जननी थीं अनाथाश्रितों की,
आराध्या थीं ब्रज-अवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं। प्रि० प्र०

यहाँ एक राधा का एक यशोदा द्वारा विषय-भेद के कारण

अनेक प्रकार से वर्णन है। यहाँ राधा के अनेक गुण अनेक प्रकार से वर्णन के निमित्त हैं।

साधुन में तुम साधु हौ, राजन में शिवराज।
सठन संग सठता करौ, कविन संग कविराज॥

यहाँ एक व्यक्ति का विभिन्न गुणों के कारण अनेक प्रकार से वर्णन है, अतः विषय-भेद द्वारा उल्लेख का उदाहरण हुआ।

यह दूसरा भेद भी अलंकारान्तर-मिश्रित पाया जाता है :—

वचन में गुरु हो, पृथु वक्ष में,
सुयश में तुम अर्जुन वीर हो।
समर में तुम भीम महामते!
सबल हो, बलहीन-दयालु हो॥

यहाँ श्लेष से संकीर्ण उल्लेख है।

हे वीर! तुम बोलने में गुरु (निपुण—बृहस्पति) हो; वक्षःस्थल में पृथु (विशाल और पृथु नामक राजा) हो; सुयश में अर्जुन (उज्ज्वल और युधिष्ठिर के छोटे भाई) और समर (युद्ध) में भीम (भयानक और भीमसेन) हो।

इसी प्रकार और दूसरे अलङ्कारों से मिश्रित उल्लेख के भी उदाहरण मिल सकते हैं।

स्मरण

किसी वस्तु को देखकर तत्सदृश अन्य वस्तु के स्मरण को स्मरण अलङ्कार कहते हैं।†

स्मरण का अर्थ है याद करना। पूर्वानुभव संस्कार रूप से

† सादृश्यानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्। द०

मन में निहित रहता है। वही परिस्थितिविशेष में उद्‌बुद्ध होकर स्मरण का कारण बन जाता है। ऐसा प्रायः तब होता है जब पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश या विसदृश वस्तु प्रत्यक्ष होती है। सदृश में सादृश्य और विसदृश में वैसादृश्य स्मरण का प्रयोजक है; सुन्दरवस्तु को देखकर सुन्दर वस्तु की याद तो आती ही है पर कभी-कभी असुन्दर को देखकर भी वैषम्य (Contrast) के कारण सुन्दर की याद आती है जैसे 'यह देखने में इतना कुरूप है वह कितना सुन्दर था।' यदि यही स्मरण चमत्कारयुक्त हो तो कोरा स्मरण न होकर अलङ्कार में परिणत हो जाता है। विच्छित्ति या चमत्कार तो अलङ्कार की पहली शर्त है।

सादृश्य के द्वारा स्मरणालङ्कार :—

खेलते खंजन-युगल जिस पर यहाँ देख कर अरविन्द विकसित यह सखे !
चारु चंचल लोचनों से युक्त वह प्रियतमा का वदन आता याद है। ॐ

यहाँ खंजन पक्षियों से युक्त कमल के फूल को देखकर नायिका के चंचल नेत्रोंवाले मुख का स्मरण वर्णित है। कमल पर चहक-चहककर खेलनेवाले खंजनों और नायिका के नेत्रों में तथा कमल के फूल और नायिका के मुख में सादृश्य है जो इस अलङ्कार का साधक है।

कालिंदी के पुलिन पर जा या सजीले सरों में
जो मैं फूले कमलकुल को मुग्ध हो देखती हूँ,
तो प्यारे के कलित कर की औ अनूठे पगों की
छा जाती है सरस सुषमा वारि-स्रावी दृगों में। प्रि०प्र०

यहाँ कमल के फूलों को देखकर (तत्समान) कृष्ण के कर और चरण की याद आती है।

स्मरण के अनेक उदाहरण प्रियप्रवास के षोडश सर्ग में वर्तमान हैं।

वैसादृश्य के द्वारा स्मरण :—

जब जब विपिन बीच वैदेही
अनुभव करतीं कष्ट अपार,
तब तब गृह-सुख-स्मृति बरसाती
राघव के दृग से जलधार।❀

वन में सीता के कष्टों को देखकर राम को अयोध्या के सुखों का स्मरण वैसादृश्य द्वारा हो रहा है।

वैसादृश्य के आधार पर एक सुन्दर उदाहरण यह है :—

ज्यों ज्यों इत देखियत मूरख बिमुख लोग
त्यों त्यों ब्रजबासी सुखरासी मन भावे हैं।
खारे जल छीलर,[1] दुखारे अंधकूप देखि,
कालिंदी के कूल काज मन ललचावे हैं।
जैसी अब बीतति सो कहत बनै न बैन,
'नागर' ना चैन परे, प्रान अकुलावे हैं।
थूहर,[2] पलास देखि, देखि के बबूर[2] बुरे,
हाय हरे-हरे वे तमाल सुधि आवे हैं॥

भ्रान्तिमान्

सादृश्य के कारण दूसरी वस्तु में दूसरी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान भ्रान्तिमान् है।†

भ्रान्ति कहते हैं धोखे को इसलिये भ्रान्तिमान् का अर्थ है धोखे से युक्त (ज्ञान)।

---

१ छिछले जल की बावड़ी। २ वृक्षविशेष।

† सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिः भ्रान्तिमान्। रूय्यक

ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—

(१) प्रमा—जो वस्तु जो है उसे वही समझना। इसे सत्य या वास्तव ज्ञान भी कहते हैं, जैसे रस्सी को रस्सी या सर्प को सर्प समझना।

(२) भ्रम—जो वस्तु जो नहीं है उसे वह समझ लेना अर्थात् दूसरी वस्तु को दूसरी वस्तु मानना। इसे अवास्तव या मिथ्याज्ञान भी कहते हैं। इसे ही हिन्दी में धोखा कहा जाता है जैसे रस्सी को सर्प या अंधकार में देखे ठूँठे वृक्ष को आदमी समझ लेना।

(३) सन्देह—दो वस्तुओं की भावना में किसी एक पक्ष में निर्णय न कर सकना। संदेह की बोली प्राय: इस प्रकार की होती है 'यह यह है या यह'। सन्देह में 'या', 'अथवा' आदि शब्द निश्चित रूप से लगे रहते हैं, जैसे—यह रस्सी है या सर्प? यह सीप है या चाँदी? यह ठूँठ है या मनुष्य? आदि आदि।

इन तीनों प्रकार के ज्ञानों में प्रमा के विषय में कुछ नहीं कहना है। संसार के सारे वास्तविक ज्ञान तो तद्रूप हैं। पर इनमें भ्रम भ्रान्तिमान् अलंकार का और सन्देह सन्देह अलंकार का विषय है।

दो वस्तुओं में कुछ ऐसी उत्कट समानता रहती है कि स्वभावत: एक में दूसरी का भ्रम हो जाता है। इसमें ज्ञाता का ज्ञान मिथ्या होने पर भी निश्चयात्मक होता है; जैसे रस्सी को सर्प समझकर भाग खड़ा होना या कागज अथवा सीप के टुकड़े को चाँदी की चौअन्नी-अठन्नी समझकर उसे उठा लेना। रस्सी को सर्प समझनेवाला उसे निश्चित रूप से सर्प ही समझता है तभी तो वह डर कर पीछे हटता या भागता है। उसी

तरह कागज के टुकड़े को चौअन्नी समझकर उसपर लपटनेवाला यदि वस्तुतः कागज का टुकड़ा समझे तो उसे थोड़े ही उठायगा ? निष्कर्ष यह कि इसमें ज्ञान असत्य होता हुआ भी निश्चयात्मक होता है। ऐसे मिथ्याज्ञान के कई कारण हैं—अत्यंत दूरी, अत्यन्त समीपता, ज्ञानेन्द्रिय का असामर्थ्य आदि।

सूर उदित हू तिय बदन, जानि चंद मति-भोर।
चितै रहत चहुँ ओर तें, निश्चल चखनि चकोर॥

यहाँ मुख को चंद्रमा समझकर उसकी ओर चकोर के टकटकी लगाने में भ्रान्तिमान् है।

पाय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिर-फिर जानि महावरी, एँड़ी मीड़ति जाय॥

यहाँ नाइन को नायिका की एड़ी में (अतिशय लाली के कारण) महावर की गोली का भ्रम हो जाता है, अतः महावर लगाने के लिये उसकी गोली को जल में न मलकर बार-बार एड़ी को ही मल रही है।

फिरि घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि।
फूल्यो देखि पलास बन, समुहें समुझि दवागि॥

यहाँ बसन्त ऋतु में विदेश-गमन करनेवाले नये पथिक पुष्पित पलाश-वन को देखकर (पलाश के फूल बहुत लाल होते हैं) उसे दावाग्नि समझ डर से फिर घर लौट आते हैं। नूतन का स्वारस्य यह है कि उन्हें बाहरी दुनिया का अनुभव नहीं है, तभी तो पलाश-वन को दावाग्नि मान लेते हैं। दो-चार बार बाहर आये-गये पथिकों को ऐसे पलाश-वन कई बार देखने को मिल चुके होंगे, इसलिये उन्हें ऐसी भ्रान्ति संभवतः न हो।

नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से।

देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है? साकेत

यहाँ उर्मिला की नाक और मोती में अनार का दाना पकड़े हुए शुक का भ्रम घर के पाले शुक को हो रहा है।

सन्देह

प्रस्तुत में अप्रस्तुत के संशय को सन्देह अलंकार कहते हैं।†

सन्देह का स्पष्टीकरण पीछे हो चुका है। सन्देह सादृश्यमूलक ही होता है; चींटी में हाथी का या रेलगाड़ी में आदमी का संदेह नहीं होता क्योंकि इनमें परस्पर कोई सादृश्य नहीं है। चमत्कारमूलक संशय ही अलंकार हो सकता है। 'यह रस्सी है या सर्प', 'वह गाय है या बैल' ऐसे वाक्यों में चमत्कार का अभाव रहने से इन्हें सन्देहालंकार की श्रेणी में नहीं रख सकते।

सन्देह के तीन भेद हैं :—

(१) शुद्ध—जहाँ अंत-अंत तक सन्देह बना रहे।

(२) निश्चयमध्य—जिसके आदि और अन्त में तो सन्देह पर मध्य में निश्चय की कोटि हो। निश्चयमध्य को निश्चयगर्भ भी कहते हैं।

(३) निश्चयान्त—जहाँ आरम्भ में सन्देह हो पर अन्त में निश्चय हो जाय।

---

† संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। सा० द०

१ शुद्ध

विरह है अथवा यह वरदान !—पन्त

यहाँ विरह और वरदान में निश्चय नहीं हो पाता, अंत तक सन्देह ही की स्थिति रहती है, अतः यह शुद्ध सन्देह अलंकार है।

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया
दृग-पलकों में विचर रही, या
वन्यदेवियों की माया ?—पन्त

यहाँ स्वप्न में 'भावी की छाया' और 'वन्यदेवियों की माया' का सन्देह है। निश्चय का अभाव होने से शुद्ध है।

इन दूबों के टुनगों पर
किसने मोती बिखराये ?
या तारे नील गगन के
स्वच्छन्द विचरने आये ?
या बँधी हुई हैं अरि की
जिसके कर में हथकड़ियाँ
उस पराधीन जननी की
बिखरीं आँसू की लड़ियाँ ?—हल्दीघाटी

यहाँ प्रस्तुत ओसकण में मोती, तारे और आँसू का सन्देह है और अंत तक सन्देह का निवारण नहीं होने से शुद्ध है।

चंदकला, कै चंचला, कै चंपे की माल।
कै चामीकर की छरी, सुछवि भरी कै बाल॥

यहाँ बाल (नायिका) में चन्द्रकला, बिजली, चंपा की माला और सोने की छड़ी का सन्देह है।

२ निश्चयमध्य

क्या कमल ? यह तो सलिल में है नहीं,
इन्दु क्या ? दिन में नहीं वह दीखता।
इस तरह संशय-चकित-चित हो रहे
जो सुमुखि ! मुख-कांति तेरी देखते। ※

पहले नायिका के मुख में कमल का सन्देह होता है पर जल में नहीं रहने के कारण वह दूर हो जाता है ; फिर चन्द्रमा का सन्देह होता है पर वह दिन में नहीं दिखायी देता (और यह दिन में दीख रहा है) अतः यह चंद्रमा भी नहीं है। इस प्रकार बीच में केवल इतना ही निश्चय होता है कि यह कमल और चंद्रमा नहीं है पर आरंभ में जो संदेह उत्पन्न होता है वह अंत में भी नहीं मिटता अत: यह निश्चयमध्य है।

कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहाँ ?
कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्य की लोच कहाँ ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो होती है भोलीभाली ?
तुम्हीं बताओ अतः कौन तुम हे रंजित-रहस्यवाली ॥ गुप्त

लक्ष्मण को शूर्पणखा में क्रमशः मानवी, दानवी और वन-देवी का सन्देह होता है पर साथ ही यह निश्चय भी होता जाता है कि वह इनमें कोई नहीं है और अंत में संदेह ही बना रह जाता है। अतः आदि और अंत में सन्देह की स्थिति रहने से और केवल मध्य में निश्चय होने से यह निश्चयमध्य है।

३ निश्चयान्त

घन-च्युत चपला कै लता, संसय भयो निहारि।
दीरघ स्वासनि लखि कपी, किय सीता निरधारि ॥

अशोक-वाटिका में सीता को देखकर हनूमान को सन्देह होता है कि यह मेघ से गिरी बिजली है या लता है पर उनके दीर्घ उच्छ्वासों से यह निश्चय होता है कि वे सीता हैं। यहाँ आरंभ में सन्देह पर अंत में निश्चय होने से निश्चयान्त संदेह है।

है उदित पूर्णेन्दु वह अथवा किसी
कामिनी के वदन की छिटकी छटा ?
मिट गया सन्देह क्षणभर बाद ही
पान कर संगीत की स्वरमाधुरी। ✻

रात को दूर खड़ी नायिका को देख किसी को संदेह होता है कि वह पूर्णचन्द्र है या किसी कामिनी की मुखछटा फैल रही है। पर शीघ्र ही जब वह गाने लगती है तो संदेह निवृत्त हो जाता है और निश्चय हो जाता है कि वह कामिनी ही है चंद्रमा नहीं (चंद्रमा भला कैसे गायेगा)। यह भी निश्चयान्त संदेह है।

अपह्नुति

प्रकृत (उपमेय) का निषेध कर अप्रकृत (उपमान) का आरोप करना अपह्नुति अलंकार है। †

अपह्नुति या अपह्नव का अर्थ है छिपाना। इस अलङ्कार में न, नहीं आदि निषेधवाचक शब्दों की सहायता से उपमेय का प्रतिषेध कर उसमें उपमान का आरोप करते हैं, जैसे 'यह मुख नहीं, चन्द्र है', यहाँ 'नहीं' शब्द से मुख उपमेय का निषेध कर उसमें चन्द्र-उपमान का आरोप किया गया है। उपमेयोपमान संबंध के अभाव में भी अपह्नुति देखी जाती है।

---

† प्रकृतं यत् निषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः। सा० द०

कहीं तो पहले निषेध करके तब आरोप करते हैं और कहीं आरोप के बाद निषेध।

निषेधपूर्वक आरोप :—

नहिं पलास के पहुप ये, हैं ये जरत अँगार।

यहाँ प्रकृत पलाश-पुष्प का पहले 'नहीं' शब्द से निषेध कर पीछे उसमें अंगार का आरोप किया गया है।

कर अजब आसमान की रंगत
ये सितारे न रंग लाते हैं।
अनगिनत हाथ-पाँव वाले के
नख जगा जोत जगमगाते हैं। हरिऔध

यहाँ तारों का निषेध कर, उनमें नख-ज्योति का आरोप है। इसे ही कुछ लोगों ने शुद्धापह्नुति के नाम से पुकारा है।

यहाँ निषेधवाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग रहने से इसे शाब्दी अपह्नुति भी कहते हैं।

आरोपपूर्वक निषेध :—

नये सरोज, उरोज न ये, मंजु मीन, नहिं नैन।
कलित कलाधर, बदन नहिं, मदन बान, नहिं सैन॥

यहाँ आरोप के बाद निषेध है—पहले उपमान सरोज का आरोप हो लेता है तब उरोज उपमेय का निषेध होता है। ऐसे ही अन्यत्र भी है।

निषेध के लिये छल, मिस, छद्म, बहाना, कैतव आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। इनके प्रयोग में आर्थी अपह्नुति मानते हैं क्योंकि निषेधवाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग नहीं रहता। इसे ही कुछ लोग कैतवापह्नुति कहते हैं।

रसना मिस बिधि ने धरी, साँपिन खल मुख माँहि।

यहाँ 'मिस' शब्द का प्रयोग कर अपह्नव किया गया है। रसना उपमेय का यहाँ मिस से प्रतिषेध कर उसमें साँपिन उपमान का आरोप है—यह रसना नहीं साँपिन है।

सावन की अंधी रजनी
वारिद-मिस रोती आयी। हल्दीघाटी

जल-वर्षा का निषेध कर उसमें अश्रु-वर्षा का आरोप है।

नग-अधर विकल हिलते थे
चलदल के दल से थरथर।
ओसों के मिस नभ दृग से
बहते थे आँसू झर झर। हल्दीघाटी

यहाँ ओस में आँसू का आरोप है।

किसी गोपनीय अर्थ को किसी प्रकार प्रकट कर, श्लेष या अन्य प्रकार से उसे फिर छिपा देने में भी अपह्नुति अलंकार होता है।[1]

इसे ही कुछ लोगों ने छेकापह्नुति नाम से कहा है।

श्लेष द्वारा गोपन :—

बरजत हूँ बहुबार हरि, दियो चीर यह चीर।
का मनमोहन को कही, नहिं बानर बेपीर॥

यहाँ 'हरि' शब्द में श्लेष है। उसके अर्थ को परिवर्तित कर कृष्ण द्वारा कपड़े का फाड़ा जाना बन्दर द्वारा फाड़ा जाना कहा गया है।

---

[1] गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साऽप्यपह्नुतिः॥ सा० द०

अश्लेष द्वारा गोपन :—

अठयें सतयें मो घर आवै ।
भाँति-भाँति की बात सुनावै ।
सजनि रजनि में मन बहलावै ।
मनमोहन जग में कहलावै ।
ताही को मोहिं अति एतबार ।
क्या सखि साजन नहिं अखबार ॥

यहाँ पहले साजन का अर्थ प्रकट कर पीछे अखबार के अर्थ द्वारा खुले हुए रहस्य का गोपन कर दिया गया है ।

देख, अनिल के झोंके खा खा कंपिता
लिपट रही तरुवर से कैसी यह लता ।
सखि ! क्या स्मृति प्रिय-आलिङ्गन की आ रही ?
नहीं, समाँ सावन का मैं दिखला रही ।*

पहले तो नायिका ने प्रिय के आलिङ्गन को स्मरण कर ही वृक्ष-लता के आलिङ्गन की ओर इंगित किया पर सखी द्वारा पूछे जाने पर 'सावन का समाँ दिखला रही हूँ' यह कहकर उस रहस्य को छिपा लिया ।

कुछ परवर्त्ती आलङ्कारिकों ने अपह्नुति के इन पूर्वोक्त भेदों के अतिरिक्त और भी ३ भेद माने हैं—हेत्वपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति तथा भ्रान्तापह्नुति ।

सूक्ष्म पर्यालोचना के बाद इन तीनों भेदों की पृथक् स्थिति संभव नहीं दीखती ।

हेत्वपह्नुति में अपह्नव के साथ उसका हेतु (कारण) भी निर्दिष्ट रहता है । जैसे—

रात-माँझ रबि होत नहिं, ससि नहिं तीव्र सुलाग।
उठी लखन अवलोकिए, बारिधि को बड़वाग॥

यहाँ शशि का निषेध कर उसमें वाड़वाग्नि का आरोप है। पर इस आरोप के लिये कारण भी दिया गया है—रात को सूर्य नहीं होता और चंद्रमा तापकारक नहीं होता इसलिये यह और कुछ नहीं, वाड़वाग्नि है।

यहाँ निषेध से अपह्नुति का स्वरूप तो अवश्य प्रतीत होता है, पर अर्थ-मीमांसा के बाद इसमें संदेह और अन्ततः भ्रान्ति का ही प्राधान्य दिखायी पड़ता है—अपह्नुति का आभासमात्र है। केवल उपरञ्जकता—उक्तिचमत्कार के लिये ही शशि को वाड़वाग्नि नहीं कहा गया है बल्कि वियोग के कारण राम को वस्तुतः वैसी प्रतीति हो रही है जो भ्रान्त है, अतः ऐसे स्थलों पर या तो संदेह मानें या संदेहमिश्रित भ्रान्तिमान्। पण्डितराज जगन्नाथ ने इससे मिलते-जुलते उदाहरणों में भ्रान्तिमान् ही माना है।

पर्यस्तापह्नुति—पर्यस्त का अर्थ है विपर्यस्त (उलटा)। जैसे—

है न सुधा यह, है सुधा संगति-साधु-समाज।

यहाँ सुधा के 'सुधात्व' का उसमें से खंडन कर उसका साधु-संगति में आरोप किया गया है।

अब इसे अपह्नुति के भेदों में रखना उचित है या नहीं यह विचारणीय है। अपह्नुति का लक्षण है "उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोप"। यहाँ उसके विपरीत उपमान का ही निषेध कर उसका दृढ़तापूर्वक उपमेय में आरोप हो रहा है।

अतः यह भेद अपह्नुति के लक्षण से सर्वथा विपरीत पड़ जाता है—उसके बाहर निकल जाता है। 'उपमान का उपमेय में आरोप' रहने से यह रूपक का ही एक-भेद होता है; अंतर यही है कि रूपक में बिना निषेध के उपमान का उपमेय में आरोप होता है और यहाँ निषेधपूर्वक उपमान का उपमेय में आरोप। इसके लिये एक नये भेद की कल्पना कर इसे रूपक में ही अंतर्भूत करना उचित है। इसीलिये पण्डितराज ने इसे दृढ़ारोप रूपक के नाम से पुकारा है, अपह्नुति के भीतर नहीं गिना।

अब रही भ्रान्तापह्नुति। पर्यस्तापह्नुति की भाँति इसमें भी उपमान का ही निषेध पाया जाता है। अतः जिस कारण से पर्यस्तापह्नुति को अपह्नुति में गिनना उचित नहीं उसी कारण से भ्रान्तापह्नुति को भी अपह्नुति में नहीं रख सकते।

विमल बदन यह बिधु नहीं, करि भ्रम लखु न चकोर।
नये उरोज, सरोज न ये, भूलु न अलि इहि ओर॥

यहाँ चकोर मुख को चंद्र और भ्रमर उरोज को सरोज समझ लेते हैं जो भ्रान्ति है। उस भ्रान्ति का निवारण कर उपमेय का स्थापन किया गया है। यहाँ भी उपमान का निषेध (बिधु नहीं, सरोज न) और उपमेय की स्थापना है। अतः यह भी अपह्नुति के क्षेत्र के बाहर है। कविराज विश्वनाथ ने इसे इसी कारण निश्चय नाम से पृथक् अलङ्कार माना है और उसका लक्षण उन्होंने यह दिया है—अप्रकृत (उपमान) का निषेध कर प्रकृत का (उपमेय) का स्थापन निश्चयालङ्कार है। †

बेसर-मोती-दुति-झलक परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय क्यों पट पोंछो जाय॥

---

† अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः। सा० द०

यहाँ भी 'यह चूना नहीं, बेसर के मोती की छाया है; तू उसे क्यों बार-बार पोंछ रही है' इस प्रकार उपमान का निषेध कर उपमेय की स्थापना होने से निश्चय अलङ्कार ही है।

अतः या तो इन भेदों को किसी दूसरे अलङ्कार का भेद या स्वतंत्र अलङ्कार माना जाय या यदि अपह्नुति में रखने का आग्रह हो तो उसके परम्पराप्राप्त लक्षण में आवश्यक संशोधन करना अनिवार्य होगा। उसका वर्त्तमान लक्षण रखते हुए इन्हें अपह्नुति कहना असंगत है। न जानें क्यों उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने इतना अंतर रहते हुए भी इन्हें अपह्नुति के भेदों में गिन लिया।

उत्प्रेक्षा

उपमेय में उपमान की संभावना उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। †

उत्प्रेक्षा का अर्थ है उत्कट रूप से प्रकृष्ट (उपमान) को देखना [1]। यहाँ देखने का तात्पर्य है संभावना करना। संभावना ज्ञान की वह कोटि है जिसकी स्थिति संदेह से आगे और निश्चय से पीछे रहती है। जैसे 'क्या वह आयगा' इस प्रश्न के ये उत्तर हो सकते हैं :—

१ वह आयगा
२ वह नहीं आयगा } —निश्चय

३ वह आ भी सकता है, नहीं भी आ सकता है—सन्देह

४ उसके आने की संभावना है—संभावना

यह अंतिम उत्तर निश्चयात्मक नहीं पर सन्देह की द्विविधा भी इसमें नहीं है; यह निश्चय की ओर अधिक झुकता हुआ उससे थोड़ा कम है। 'उसके आने की संभावना है' का भाव 'वह आयगा'

---

† भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। सा० द०

१ उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानम् उत्प्रेक्षापदार्थः।

—काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या।

के बहुत समीप पड़ता है। संभावना से जरा आगे बढ़ने पर ही निश्चय की कोटि आ जाती है। एक दूसरा उदाहरण देखिये।

मुखचंद्र है—	निश्चय—	रूपक	अलङ्कार।
मुख है या चंद्र है—	सन्देह—	सन्देह	,, ।
मुख संभवतः(मानो)चंद्र है–	संभावना	उत्प्रेक्षा	,, ।

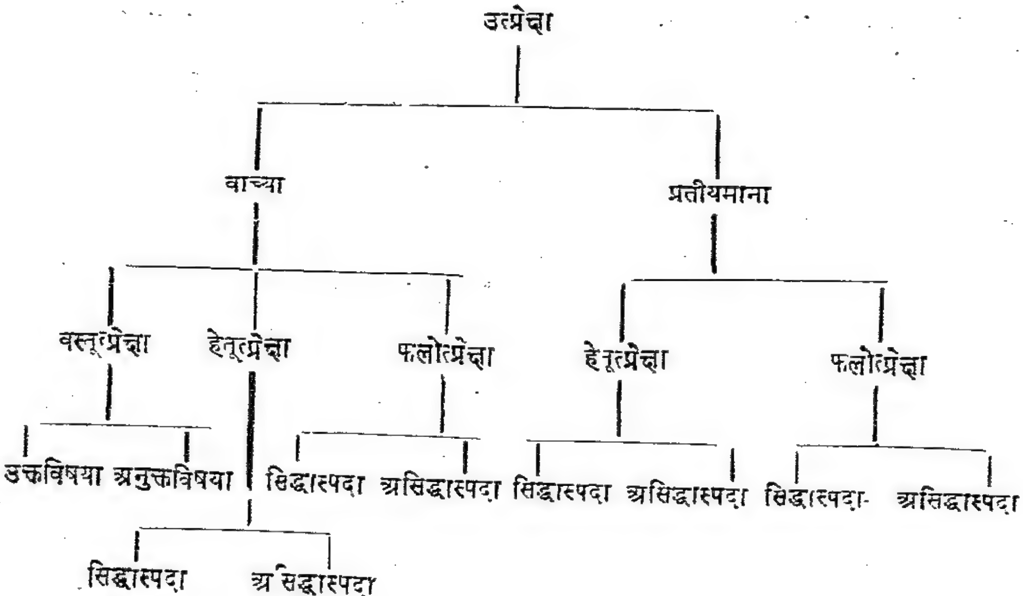
इसीलिये कहा गया है कि संभावना में ज्ञान की कोटि निश्चित नहीं पर उत्कट—प्रबल—निश्चय की ओर अधिक झुकी हुई रहती है। इस प्रकार उपमेय में उपमान की संभावना करने पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।

उपमा की तरह उत्प्रेक्षा में भी कहीं वाचक शब्द रहता है और कहीं नहीं। जहाँ वाचक शब्द हो उसे वाच्या और जहाँ नहीं हो उसे गम्या या प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा कहते हैं। मानो, जानो, इव, मनु, जनु, निश्चय, प्रायः, मेरे जानते, मैं समझता हूँ, जान पड़ता है, आदि उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द हैं।

उपमेय उपमान भाव केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा में ही संभव है। हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा उसके बिना ही हुआ करती है। फिर भी लक्षण में उपमेय-उपमानभाव का कथन सामान्यदृष्टि से किया गया है—वह उपलक्षण मात्र है। अतः उपमेय–उपमान-भाव के अभाव में उत्प्रेक्षा न हो यह कोई आवश्यक नहीं। इसमें वास्तविक प्राधान्य है संभावना का।

उत्प्रेक्षा के तीन भेद हैं—(१) वस्तूत्प्रेक्षा (इसे स्वरूपोत्प्रेक्षा भी कहते हैं), (२) हेतूत्प्रेक्षा और (३) फलोत्प्रेक्षा। वाच्या इन तीनों में होती है पर प्रतीयमाना केवल हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में ही। वस्तूत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है—(१) उक्तविषया और (२) अनुक्तविषया। हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के दो भेद और हैं—(१) सिद्धास्पदा और (२) असिद्धास्पदा।

इन भेदों का स्पष्ट रूप यों होगा :—


उत्प्रेक्षा
वाच्या
प्रतीयमाना
वस्तूत्प्रेक्षा
हेतूत्प्रेक्षा
फलोत्प्रेक्षा
हेतूत्प्रेक्षा
फलोत्प्रेक्षा
उक्तविषया
अनुक्तविषया
सिद्धास्पदा
असिद्धास्पदा
सिद्धास्पदा
असिद्धास्पदा
सिद्धास्पदा
असिद्धास्पदा
सिद्धास्पदा
असिद्धास्पदा

वस्तूत्प्रेक्षा

एक वस्तु में दूसरी वस्तु की संभावना को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

वस्तु से यहाँ उपमेय-उपमान का ग्रहण है। जैसा पहले कहा जा चुका है, वस्तूत्प्रेक्षा में ही उपमेय में उपमान की संभावना की जाती है। इसके दो रूप हैं।

(१) उक्त-विषया—जहाँ विषय (उपमेय) का कथन कर उसमें उपमान की संभावना की जाय अर्थात् उपमेय और उपमान दोनों का शब्दतः कथन हो।

(२) अनुक्तविषया—जहाँ विषय (उपमेय) अनुक्त हो, उसका कथन नहीं किया गया हो अर्थात् उपमेय को शब्दतः कहे बिना उसमें उपमान की संभावना की जाय।

उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा:—

छिप्यो छबीलो मुंह लसै, नीलैं अंचर चीर।
मनों कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर॥

यहां नीले घूंघट के भीतर से अपनी कांति बिखेरते हुए मुख में कालिन्दी के जल में झलमलाते हुए चंद्रमा की उत्प्रेक्षा की गयी है। मुंह (वस्तु) में चंद्र (वस्तु) की उत्प्रेक्षा होने से वस्तूत्प्रेक्षा और मुख (उपमेय) का शब्दतः कथन कर उसमें चंद्र (उपमान) की संभावना करने से उक्तविषया है। मानों शब्द के प्रयोग से वाच्या है।

सखि सोहत गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसत मनो पिए, दावानल की ज्वाल॥

यहां गुंजा की माला (उपमेय) में दावानल की ज्वाला

(उपमान) की संभावना होने से वस्तूत्प्रेक्षा और उपमेय-उपमान दोनों का शाब्द अभिधान होने से उक्तविषया है। उत्प्रेक्षा वाचक मनो शब्द है ही।

लता भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाय।
मनु निकसे जुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाय॥

लताभवन से बाहर निकले राम-लक्ष्मण दोनों भाइयों (उपमेय) में मेघ का आवरण हटा कर प्रगट होनेवाले दो चंद्रों (उपमान) की संभावना है। उक्तविषया और वाच्या तो स्पष्ट ही है।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखिला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग। कामायनी

प्रस्तुत नील परिधान से आवृत सुंदर अंग में अप्रस्तुत मेघ के भीतर चमकनेवाली बिजली की उत्प्रेक्षा है। ज्यों वाचक शब्द है।

जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े। साकेत

यहाँ प्रस्तुत नेत्रों में अप्रस्तुत हीरों में जड़े नीलम की संभावना की गयी है। 'जान पड़ता' उत्प्रेक्षा का वाचक शब्द है।

अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा :—

सरद ससी बरसत मनो घन घनसार अमंद।

शरत्काल की चाँदनी चारों ओर छायी हुई है जिसमें कपूर की वर्षा की उत्प्रेक्षा की गयी है। यहाँ प्रस्तुत चाँदनी

के फैलने का कथन नहीं है, केवल अप्रस्तुत कपूर-वर्षा का ही कथन हुआ है अतः अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुसक्यान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान। कामायनी

यहाँ प्रस्तुत झरने में अप्रस्तुत हिमालय की हँसी की उत्प्रेक्षा है पर झरने का कथन नहीं है अतः अनुक्तविषया है।

वह देखो, वन के अंतराल से निकले,
मानों दो तारे क्षितिज, जाल से निकले। साकेत

यहाँ प्रस्तुत भरत शत्रुघ्न का शब्दतः कथन नहीं है, केवल अप्रस्तुत दो तारों का कथन है, अतः अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

जीति जीति कीरति लई, सत्रुन की बहु भाँति।
पुर पर बांधी सोभिजै, मानहुँ तिनकी पांति॥

यहाँ प्रस्तुत पताका में अप्रस्तुत शत्रु-कीर्त्ति की उत्प्रेक्षा है, पर पताका का कथन नहीं रहने से अनुक्तविषया है।

मानो नभसे आग बरसती।
खोले चोंच, हाँफती, जलकण को चिड़ियों की पांति तरसती।

यहाँ प्रस्तुत सूर्य की प्रखर किरणों में अप्रस्तुत अग्नि की उत्प्रेक्षा है। सूर्य की किरणों का उल्लेख नहीं रहने से अनुक्त-विषया है।

हेतूत्प्रेक्षा

जो हेतु नहीं है उसे हेतु मानकर उत्प्रेक्षा करना।

इसमें वस्तुतः जो कारण नहीं रहता है उसे कारण के रूप में कहा जाता है। जैसे 'चंद्रमा मानो रात्रि के वियोग से

पीला पड़ गया है', यहाँ चंद्रमा का पीला पड़ना स्वाभाविक है पर रात्रि का वियोग उस पीलापन के कारण के रूप में उत्प्रेक्षित है। रात्रि का वियोग चंद्रमा के पीलापन का वास्तविक कारण है नहीं फिर भी 'मानो वियोग से ही पीला पड़ा है' इस प्रकार कहकर उसे पीलापन का कारण बताया गया है।

इसके भी दो भेद हैं:—

(१) **सिद्धास्पदा**—जहाँ उत्प्रेक्षा का आस्पद (आधार) सिद्ध (संभव) हो।

(२) **असिद्धास्पदा**—जहाँ उत्प्रेक्षा का आस्पद (आधार) सिद्ध (संभव) न हो।

सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा :—

लसै मुरासा तिय स्रवन, यों मुकतन दुति पाय।
मानों परस कपोल के, रहे सेदकन छाय॥

नायिका के कानों में मोतियों से जड़ी तर्की शोभ रही है, उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो कपोल के स्पर्श से उसमें पसीने की बूँदें निकल आयी हैं (संचारीभाव के रूप में पसीने का निकलना प्रसिद्ध है)। यहाँ स्वेदकण की उत्प्रेक्षा में कपोल का स्पर्श कारण कहा गया है। ऐसे स्पर्श से पसीने का निकलना संभव है अतः सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा है।

मनो कठिन आँगन चली ताते राते पाय।

नायिका के पैर तो स्वभावतः लाल हैं पर यहाँ आँगन की कठोरता के कारण उनका लाल होना कहा गया है जो वस्तुतः कारण है नहीं। कठोर वस्तु पर चलने से पैर लाल हो सकते हैं इसलिये यह सिद्धास्पदा है।

असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा—

मोर-मुकुट की चंद्रिकनि, यों राजत नँदनंद।
मनु ससि-सेखर के अकस, किय सेखर सत चंद ॥

यहाँ कृष्ण का शिव के ईर्ष्यारूप कारण से सिर पर सैकड़ों चंद्रों का धारण करना कहा गया है जो सिद्ध नहीं है अत: असिद्धास्पदा है।

तुव चख निरखि लजाय मनु, किय बनबास मृगीन ।
कुवलय रहत मलीन दिन, रहे पैठि जल मीन ॥

मृगियों के वनवास, कुवलयों की दिन में मलिनता और मछलियों के जल में प्रवेश का कारण नायिका की आँखों से लज्जित होना कहा गया है जो असिद्ध है। आँखों से लज्जित होकर बन में मृगियाँ नहीं रहतीं, न इस कारण कुवलय दिन में मलिन होते या मछलियाँ जल में छिप जाती हैं। अत: यह भी असिद्धास्पदा है।

फलोत्प्रेक्षा

जो फल नहीं हो उसमें फल की संभावना करना ।

जैसे हेतूत्प्रेक्षा में अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा की जाती है वैसे ही फलोत्प्रेक्षा में अफल में फल की उत्प्रेक्षा होती है। कोई किसी सुन्दरी से कहे कि 'तुम्हारे मुख की समता पाने के लिये मानो कमल जल में तपस्या कर रहा है' तो यहाँ मुख की समता पानेरूप फल की इच्छा से कमल का जल में तपस्या करना असंगत है। फिर भी उसे फल के रूप में कहा गया है। इसे ही अफल में फल की उत्प्रेक्षा कहते हैं।

यह भी हेतूत्प्रेक्षा की तरह दो प्रकार की है (१) सिद्धास्पदा जहाँ फल का आस्पद (आधार) सिद्ध (संभव) हो। और

(२) असिद्धास्पदा—जहाँ फल का आधार असंभव हो।

सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा :—

दुवन[1] सदन सबके बदन, सिव सिव आठो जाम।
निज बचिबे को जपत मनु, तुरकौ हर को नाम॥

शत्रुओं के घर में सभी शिव शिव (शिवाजी का नाम) जप रहे हैं। मालूम होता है जैसे अपनी रक्षा के लिये यवन भी शिव का नाम जप रहे हों। रक्षा के लिये शिव का नाम जपना संभव है अतः सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा है।

मधुप निकारन के लिये, मानो रुके निहारि।
दिनकर निज कर[2] देत है, सतदल दलनि उघारि॥

सूर्योदय का वर्णन है। सूर्य की किरणों से कमलों का खिलना स्वाभाविक है पर यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि रात भर कमल-संपुट में बंद भौंरों को मानो उस बंधन से मुक्त करने के लिये सूर्य अपने करों (हाथों—किरणों) से कमल की पंखुड़ियों को खोलता है। कमलों के विकसित होने में भौंरों का बाहर निकालना जो वास्तविक फल नहीं है उसे फल के रूप में कहा गया है अतः फलोत्प्रेक्षा है। यहाँ उत्प्रेक्षा का आधार संभव है। इसलिये सिद्धास्पदा है।

असिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा :—

मानहुं बिधि तनु अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन को कियो, भूषन पायंदाज॥

नायिका के शरीर की सुन्दर कान्ति को स्वच्छ रखने की दृष्टि से, आँखों का पैर पोंछने के लिये भूषण का पायंदाज

---

१ शत्रु। २ हाथ और किरण।

बनाना असिद्ध है। स्त्रियाँ स्वाभाविक भाव से आभूषण धारण करती हैं, न कि आँखों की मैल पोंछने के लिये।

नाना सरोवर खिले नव पंकजों को
ले अंक में विहँसते मन मोहते थे।
मानो पसार अपने शतशः करों को
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे॥ प्रि० प्र०

सरोवर के खिले कमलों में हाथ पसार कर शरद से विभूतियाँ माँगने की उत्प्रेक्षा की गयी है। यहाँ विभूतियाँ माँगना फल है उसके लिये सरोवरों का हाथ फैलाना असिद्ध है।

गम्या या प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा

गम्या फलोत्प्रेक्षा—

गिरि अरावली के तरु के थे
पत्ते-पत्ते निष्कम्प अचल।
वन - बेलि - लता-लतिकायें भी
सहसा कुछ सुनने को निश्चल॥ हल्दीघाटी

यहाँ उत्तरार्द्ध में गम्या फलोत्प्रेक्षा है; वन-लतायें आदि वस्तुत: कुछ सुनने को निश्चल नहीं हैं, फिर भी मानो सुनने को निश्चल हैं इस रूप में उनकी उत्प्रेक्षा की गयी है। उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं है अतः गम्या है।

गम्या हेतूत्प्रेक्षा—

विधु के वियोग से विकल मूक
नभ जला रहा था अपना उर।
जलती थी धरती तवा सदृश
पथ की रज भी थी बनी भउर॥ हल्दीघाटी

दोपहर को सूर्य की प्रखरता से आकाश स्वभावतः तप्त हो जाता है। यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो दिन को चन्द्रमा का वियोग हो जाने से वह विरह के कारण संतप्त हो रहा है। चन्द्र का वियोग जो तपने का कारण नहीं है उसकी कारण रूप से सम्भावना की गयी है अतः हेतूत्प्रेक्षा है और उत्प्रेक्षा वाचक शब्द का प्रयोग नहीं रहने से गम्या।

सापह्नवोत्प्रेक्षा

जहाँ अपह्नवपूर्वक उत्प्रेक्षा हो उसे सापह्नवोत्प्रेक्षा कहते हैं।

नाहिन ये पावक प्रबल, लुएँ चलत चहुँ पास।
मानहुँ बिरह बसंत के, ग्रीषम लेत उसास॥

ग्रीष्म ऋतु में चारों ओर चलनेवाली लू का, जो प्रस्तुत है, 'नाहिन' पद से निषेध कर उसमें वसन्त के विरह के कारण, ग्रीष्म के उष्ण उच्छ्वास की उत्प्रेक्षा की गयी है अतः सापह्नवोत्प्रेक्षा है।

बात यह है कि सापह्नवोत्प्रेक्षा में अपह्नुति और उत्प्रेक्षा दोनों मिली रहती हैं।

सुधि बुधि तजि माथौ पकरि, करि करि सोच अपार।
दृग-जल मिस मानहुँ निकरि, बही बिरह की धार॥

—सत्यनारायण

यहाँ भी उत्तरार्द्ध में सापह्नवोत्प्रेक्षा है। 'दृग-जल मिस' में कैतवापह्नुति के साथ विरह की धार की उत्प्रेक्षा है।

अतिशयोक्ति

उपमेय को छिपाकर उपमान के साथ उसकी अभेदप्रतीति कराने को अतिशयोक्ति कहते हैं। †

अतिशयोक्ति का अर्थ है—अतिशय (बढ़ी चढ़ी)+उक्ति (कथन)। उपमेय को सर्वथा छिपाकर उपमान से उसका अभेदाध्यवसान दिखाना—उपमान से उसकी अभिन्नता प्रदर्शित करना अतिशयोक्ति का विषय है। इसमें उपमान का एकदम निगरण कर देते हैं—उसे निगल जाते हैं। जिस प्रकार निगली हुई वस्तु नहीं दृष्टिगोचर होती वैसे ही अतिशयोक्ति में उपमेय का एकदम कथन नहीं रहता—उसका नाम भी नहीं लेते और उसकी जगह उपमान को रखकर दोनों का अभेद-प्रतिपादन करते हैं। जैसे किसी नायिका के सुन्दर मुख को देखकर कोई मनचला कह उठता है—"अरे यार! यह चाँद देखो।" यहाँ मुख उपमेय का सर्वथा निगरण है—उसे एकदम छिपा डाला गया है और उससे चाँद का अभेद कर—मुख के स्थान में चाँद ही को रखकर मुख की प्रतीति करायी जाती है। किसी सुंदरी की लंबी, गूँथी वेणी को दिखाकर कोई कहे कि "देखें आज यह नागिन किस को डँसती है" तो वेणी (उपमेय) का बिना नाम लिये ही उससे नागिन (उपमान) का अभेद प्रतिपादित कराया गया है।

जिन्होंने लक्षणा के भेदों पर ध्यान दिया है उन्हें यह बात मालूम होगी कि गौणी साध्यवसाना ही अतिशयोक्ति का आधार है।

---

† उपमेयं निगीर्य उपमानेन तस्याभेदकथनम् अतिशयोक्तिः।

उपमा के प्रसंग में कहा गया है कि सारे अर्थालंकारों का बीज उपमा ही है और वही भिन्न-भिन्न रूप धारणकर भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाती है पर यदि अतिशयोक्ति पर ध्यान दें तो यह सिद्ध हो जाता है कि उपमा की जड़ में भी अतिशयोक्ति ही काम करती है। अतिशयोक्ति के बिना अलंकारत्व संभव ही नहीं है। उपमा की व्यापकता में केवल इतना ही तथ्य है कि सभी अलंकारों में सादृश्य की भावना व्याप्त रहती है पर उपमा का भी अलंकारत्व अतिशयोक्ति के कारण ही निष्पन्न होता है। पर वैसी दशा में अतिशयोक्ति का वह सीमित अर्थ नहीं लेना चाहिये जो ऊपर कहा गया है;—तब उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही लेना होगा—बढ़ी चढ़ी उक्ति। जब हम मुख को चंद्र के समान कहते हैं तो वहाँ भी अतिशयोक्ति रहती ही है। मुख में कितना भी प्रकाश क्यों न हो वह चंद्र की समता नहीं कर सकता है। हम किसी चंद्रमुखी को साथ लेकर अन्धकार में कोई वस्तु नहीं ढूँढ़ सकते। बिहारी की नायिकाओं के अंगों में गुलाब की पंखुड़ी से भले ही 'खरोट' पड़ता हो पर अब तक कम-से-कम किसी की दृष्टि में ऐसी सुकुमाराङ्गी नहीं आयी होगी। कौन जाने विधाता की इतनी बड़ी सृष्टि में ऐसी कोई कोमलता की प्रतिमा निकल आवे पर वह दिन मानवता के इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भक होगा और आज तो निश्चय ही उस सीमा तक बुद्धि जाने को तैयार नहीं होती। तो यह कहने का सारांश यही है कि कविता में भले ही कमल की अपेक्षा किसी के अंग की लाली या कोमलता को आगे बढ़ा दें पर वास्तविकता के मैदान में तो कमल हमेशा ही आगे रहेगा—उसकी समता भी किसी के अंगों के लिये सम्भव नहीं होगी। इस प्रकार उपमा हो या रूपक, भ्रान्तिमान् हो या

सन्देह, प्रतीप हो या व्यतिरेक सब के मूल में अतिशयोक्ति वर्तमान मिलेगी। सच तो यह है कि अतिशयोक्ति के अभाव में चमत्कार आ ही नहीं सकता। इसीलिये वास्तव या स्वाभाविक वर्णन वाले स्वभावोक्ति आदि अलंकारों में चमत्कार का अनुभव न कर बहुतों ने उन्हें अलंकार माना तक नहीं है।

अतः अलंकार की भावना ही अतिशयोक्ति से आरम्भ होती है।

अतिशयोक्ति के कई भेद माने गये हैं—(१) कहीं दो भिन्न वस्तुओं का अभिन्नतया वर्णन करना; (२) कहीं अभिन्न में भिन्नता दिखाना; (३) कहीं संबंध रहने पर संबंध का अभाव; (४) कहीं संबंध के अभाव में संबंध का निर्देश; (५) फिर कारण कार्य का संबंध-विपर्यय। कारण-कार्य का स्वाभाविक संबंध यह है कि कारण पहले और कार्य उसके बाद होता है, जैसे पिता के बाद पुत्र की उत्पत्ति। पर यदि कार्य-कारण के संबंध को उलटना चाहें तो वह दो प्रकार से संभव है—(क) कारण और कार्य साथ ही हों अथवा (ख) कार्य ही पहले हो जाय और कारण उसके बाद हो। इस प्रकार अतिशयोक्ति के छः भेद होते हैं। रीतिकालीन आलंकारिकों ने इनके लिये छः नाम दे दिये हैं। उन्हें नीचे दिया जाता है :—

(१) भेद में अभेद—रूपकातिशयोक्ति।
(२) अभेद में भेद—भेदकातिशयोक्ति।
(३) संबंध में असंबंध—असंबंधातिशयोक्ति।
(४) असंबंध में संबंध—संबंधातिशयोक्ति।
(५) कार्य-कारण का सहभाव (एक साथ होना)
—अक्रमातिशयोक्ति।

(६) कार्य पहले हो और कारण बाद—अत्यन्तातिशयोक्ति।

कुछ लोगों ने चपलातिशयोक्ति नाम का एक और भेद माना है जिसमें कारण के ज्ञान मात्र से कार्य के होने का वर्णन किया जाता है पर वह कार्य-कारण के सहभाव का ही एक दूसरा रूप है अतः उसको पृथक् मानना अनावश्यक है।

१ रूपकातिशयोक्ति

जहाँ उपमेय को छिपाकर केवल उपमान के द्वारा ही उसका बोध कराया जाय।

धनि यह द्वैज [1] जहाँ लख्यो, तज्यो दृगन दुख दंद [2]।
तो भागनि [3] पूरब [4] उग्यो, अहो अपूरब चंद॥

यह किसी नायिका के मुख को देखकर किसी का कथन है। यहाँ मुख (उपमेय) को निगीर्णकर उसके बदले केवल उपमान चंद्र का ही निर्देश किया गया है, अतः रूपकातिशयोक्ति है। यहाँ मुख और चंद्र में भेद रहते हुए भी मुखको एकदम चंद्र ही कह दिया गया है इसलिये भेद में अभेद का वर्णन है।

अद्भुत एक अनुपम बाग !
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग। सूर

यहाँ चरण के बदले जुगल कमल, जाँघ के बदले गजवर और कटि के बदले सिंह का कथन है—उपमेय का नाम न लेकर केवल उपमानों का ही निर्देश हुआ है। यह सारा पद्य ही रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण है।

बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥

---

१ दूज। २ आँखों का दुखदर्द दूर हो गया। ३ भाग्य से। ४ पूर्व दिशा में।

यहाँ मुख के बदले चंद्र, केश के बदले काली जंजीर और सीमंत के बदले फणिमुख का ही कथन है।

२ भेदकातिशयोक्ति

जहाँ अभेद रहने पर भी भेद-वर्णन हो।

इसमें और, अन्य, दूसरा आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

अनियारे दीरघ नयनि, किती न युवति सयान।
वह चितवन औरे कछू, जिहि बस होत सुजान॥

यहाँ आँखों की विशेषता बतलाने के लिये 'औरे' चितवनि कहा गया है। चितवन वही है फिर भी उसे 'औरे' कहकर अभेद में भेद की कल्पना की गयी है।

आजु कछू औरै भये, ठये-नये ठिकठैन।
चित के हित के चुगुल ये, नित के होहिं न नैन॥

यहाँ 'नैन' तो 'नित' के ही हैं—आँखें कुछ बदल नहीं गयी हैं, फिर भी उन्हें 'नित के न होहिं' और 'औरै भये' कह कर अभेद में भेद बतलाया गया है।

बहके सब जिय की कहत ठौर कुठौर लखैं न।
छिन औरे छिन और हैं, ये छबि-छाके नैन॥

यहाँ भी आँखों को 'छिन औरे छिन और हैं' कहकर अभेद में भेद दिखलाया गया है।

नयी अरुणिमा जगी अनल में, नवलोज्ज्वलता जल में,
नभ में नव्य नीलिमा, नूतन हरियाली भूतल में। द्वापर

यहाँ कृष्ण के आगमन से अग्नि में नयी लालिमा, जल में नवीन उज्ज्वलता, आकाश में अपूर्व नीलिमा, भूतल में नूतन हरियाली का आना वर्णित है पर वस्तुतः इनमें नयापन तो आता नहीं है।

तो यहां अभेद रहने पर भी 'नया' शब्द से भेद दिखलाया गया है।

३ असंबन्धातिशयोक्ति

पर भी संबंध का अभाव कहा जाय।

जुग उरोज तेरे अली! नित नित अधिक बढ़ायँ।
अब इन भुज-लतिकान में, एरी ये न समायँ॥

यहाँ उरोजों (स्तनों) का दोनों भुजाओं के बीच में अँटने का संबंध प्रत्यक्ष है—उरोज कितने भी बड़े क्यों न हों वे आखिर भुजमध्य में ही अँटते हैं—फिर भी उनका न अँटना कहकर संबंध में असम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है।

वह सजीव रचना थी युग की
पल में आकर झलकी,
नहीं समायी जड़-जंगम में
छवि उसकी जो छलकी। गुप्त

यहाँ श्रीकृष्ण की छवि का जड़-जंगम में समाने पर भी नहीं समाना कहा गया है।

४ संबंधातिशयोक्ति

जहां संबंध न रहने पर भी संबंध बताया जाय।

यह भेद असंबंधातिशयोक्ति के विपरीत है।

मैं बरजी के बार तूँ, इत कत लेति करौंट।
पँखुरी लगे गुलाब की, परिहै गात खरौंट॥

यहाँ गुलाब की पँखुड़ी लगने से 'खरौंट' का पड़ना असंबद्ध है। गुलाब की पँखुड़ी से खुरच नहीं लगती पर यहाँ वैसा ही कहा गया है अतः असंबंध में संबन्ध-कथन है।

छाले परिबे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
छिझकति हिये गुलाब के, झँवाँ झँवावत पाय॥

यहाँ गुलाब से छाला पड़ने का भय असंबंध में संबंध की कल्पना है।

पड़ी तरल यमुना तरङ्गिणी
घनी खड़ी हो जावे
तो उस अंग-भंगिमा का कुछ
रङ्ग - ढङ्ग वह पावे। द्वापर

कृष्ण के शरीर का आंशिक सादृश्य पाने के लिये तरल यमुना के घनरूप में खड़ा हो जाने की कल्पना असंबंध में संबंध का कथन है।

यदि विधुमंडल में इन्दीवर-युगल लगायें,
तब मृगनयनी के मुख की उपमा दे पायें।*

यहाँ विधुमंडल में दो इंदीवरों के लगाने में संबंध नहीं रहने पर भी संबंध का कथन है।

५ अक्रमातिशयोक्ति

जहाँ कार्य और कारण का एक साथ होना कहा जाय।

बानासन तें रावरे, बान बिषम रघुनाथ।
दससिर-सिर धर तें छुटे, दोऊ एक हि साथ॥

पहले बाण छूटता है तब कोई वस्तु छिन्न होती है। यहाँ राम के धनुष से बाण का छूटना और रावण का सिर कटना एक ही साथ कहा गया है, अतः कारण (बाण छूटना) और कार्य (सिर कटना) दोनों का एक साथ कथन होने से अक्रमातिशयोक्ति है।

उठ्यो संग गज-कर कमल, चक्र चक्रधर हाथ।
कर ते चक्र रु नक्रसिर, धर ते बिलग्यो साथ॥

यहाँ गज का हाथ उठाना (पुकारने के लिये) और विष्णु का सुदर्शनचक्र उठाना (पुकार सुनने पर) साथ ही कथित है। वैसे ही विष्णु के हाथ से चक्र का छूटना (कारण) और ग्राह का सिर धड़ से अलग होना (कार्य) एक साथ कहा गया है। अत: कार्य-कारण का सहभाव है।

वह शर इधर गाण्डीव-गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ। जयद्रथवध

यहाँ भी बाण का गाण्डीव से छूटना (कारण) और जयद्रथ का सिर कटना (कार्य) का एक साथ होना वर्णित है।

६ अत्यंतातिशयोक्ति

जहाँ कारण के पहले कार्य का ही होना कहा जाय।

प्रान पहिले ही हरै असुर सँघातिन के
पीछे पन्नगी लौं बाँबी म्यान ते कढ़ति है। का० क०

यहाँ कारण (म्यान से कटार निकलने) से पहले ही कार्य (असुरों का वध) का होना कहा गया है।

राजन ! रावर नाम-जस, सब अभिमत-दातार।
फल अनुगामी महिप-मनि ! मन-अभिलाष तुम्हार॥

संसार में अभिलाषा (कारण) पहले और फल-प्राप्ति (कार्य) पीछे होती है। यहाँ अभिलाष फल का अनुगामी (पीछे होनेवाला) है अर्थात् फल ही पहले मिल जाता है और अभिलाष पीछे होता है।

पड़ी अचानक नदी अपार
घोड़ा कैसे उतरे पार।

राणा ने सोचा इस पार
तब तक चेतक था उसपार । हल्दीघाटी

राणा जब तक यह सोचें कि घोड़ा कैसे नदी पार उतरे, तब तक चेतक उस पार था। कारण के पहले ही कार्य का होना कहा गया है।

तुल्ययोगिता

अनेक प्रस्तुतों अथवा अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्म से संबंध बताना तुल्ययोगिता अलङ्कार है। †

तुल्ययोगिता का अर्थ है तुल्य (समान) की योगिता (संबंध)। समान के संबंध का तात्पर्य यह कि जहाँ उपमेय हों वहाँ केवल उपमेय ही रहें और जहाँ उपमान हों वहाँ केवल उपमान ही रहें; उपमेय और उपमान का मिश्रण नहीं होना चाहिये, वैसा होने से तुल्य का योग न होकर अतुल्य का योग हो जायगा क्योंकि उपमेय और उपमान भिन्न पदार्थ हैं। इसमें केवल कई प्रस्तुतों को एक साथ रखकर अथवा केवल कई अप्रस्तुतों को एक साथ रखकर उनका एक धर्म से संबंध दिखाते हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के एकधर्म-संबंध में दीपक अलङ्कार होता है जो इसके बाद कहा जायगा।

तुल्ययोगिता में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की पहचान ज़रा कठिन है। प्रकरण जाने बिना इसका निर्णय करना असंभव सा होता है। कई स्थलों पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का ठीक परिज्ञान नहीं रहने से तुल्ययोगिता और दीपक में अक्सर भूल हो जाया

---

† पदार्थानां प्रस्तुतानाम् अन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता। सा० द०

करती है। इसलिये प्रसङ्ग या प्रकरण समझ कर ही इन अलङ्कारों के निर्णय में प्रवृत्त होना चाहिये। यों ही मनमाने रूप में किसी को प्रस्तुत और किसी को अप्रस्तुत मान कर अलङ्कार का नामकरण कर देना उचित नहीं। धर्म गुणरूप और क्रियारूप दोनों प्रकार का होता है यह उपमा के प्रकरण में ही कहा जा चुका है; उसे स्मरण रखना चाहिये।

अनेक प्रस्तुतों का एक-धर्म-संबंध :—

अपने तन के जानि कै, जोबन-नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब को, बड़ो इजाफा कीन॥

यहाँ यौवन के वर्णन में स्तन, मन, नेत्र और नितंब सबों का बढ़ना प्रासङ्गिक है, अतः ये सभी प्रस्तुत हैं और सबों का 'बड़ो इजाफ़ा कीन' इस एक साधारण धर्म से अन्वय होनेसे तुल्ययोगितालङ्कार है।

रूप-सुधा-आसव छक्यो, आसव पियत बनै न।
प्याले ओठ, प्रिया-बदन रह्यौ लगाए नैन॥

यहाँ प्याले का होठ और नेत्रों का प्रियमुख से, 'लगाए रह्यौ' इस एक क्रियारूप साधारण धर्म द्वारा संबंध है और दोनों बातें प्रस्तुत हैं अतः तुल्ययोगिता है।

मानहु मुख दिखरावनी, दुलहिनि करि अनुराग।
सास सदन, मन ललन हू, सौतिन दियो सुहाग॥

यहाँ नई दुलहिन को मुखदेखी के रूपमें सास का घर, प्रियतम का हृदय और सौतिनों का सुहाग सौंप देना सभी प्रासङ्गिक हैं और 'दियो' यह एक ही धर्म सब से संबद्ध है।

अनेक अप्रस्तुतों का एकधर्मसम्बन्ध :—

कान्तिक्षर के त्रास, तेरे अङ्गकी
देख सुन्दरि मंजुता-सुकुमारता,

मालती-अरविंद-चन्द्र-गुलाब की
रूक्षता किसको खटकती है नहीं ।*

यहाँ नायिका का वर्णन प्रस्तुत है। उसकी सुकुमारता की उत्कृष्टता दिखाने के लिये मालती, कमल, चन्द्र और गुलाब इन चार वस्तुओं की रूक्षता का वर्णन किया गया है जो चारों अप्रस्तुत हैं और 'रूक्षता' गुणरूप साधारण धर्म सब में अन्वित है, अतः अप्रस्तुतों के एकधर्मसंबन्ध में यह तुल्ययोगिता है।

बारौं बलि तो दृगनि पै, अलि, खंजन, मृग, मीन।
आधी डीठि चितौनि जिन, कियो लाल आधीन ॥

यहाँ नेत्र-वर्णन के प्रसङ्ग में अलि, खंजन, मृग और मीन सभी अप्रस्तुतों का 'बारौं' इस एक धर्म से संबंध कहा गया है, अतः तुल्ययोगिता है।

२ यदि हित और अहित में समान व्यवहार बताया जाय तो वहाँ भी तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है।

जो निसिदिन सेवन करैं, अरु जो करैं बिरोध।
तिन्हें परम पद देत प्रभु ! कहौ कौन यह बोध ॥

यहाँ भक्त और विरोधी दोनों के प्रति भगवान् के तुल्य व्यवहार का वर्णन है।

बंदौं संत समान चित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ ॥

यहाँ भी संतों का हित-अनहित के प्रति समान भाव कथित है।

दीपक

प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एकधर्म-संबंध होने पर दीपक अलंकार होता है। †

दीपक का अर्थ स्पष्ट है। जिस प्रकार एक स्थान पर रखा हुआ दीपक चतुर्दिक् अपना आलोक बिखेरकर सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार 'दीपक अलंकार' में साधारण धर्म प्रस्तुत और अप्रस्तुत से अन्वित होकर दोनों को प्रकाशित करता है। दीपक के गुणसाम्य के आधार पर इस अलंकार को भी दीपक कहते हैं।

चितवनि, भौंह, कमान, गढ़रचना, बरुनी, अलक।
तरुनि, तुरंगम, तान, आधु बँकाई ही बढ़ै ॥

यहाँ कोई सखी किसी नायिका को मान करने—बिल्कुल भोली-भाली, सीधी-सादी न बने रहने—अपने अंदर वक्रता लाने—की शिक्षा दे रही है और तरुणी, जो प्रस्तुत है, के साथ उन सारी अप्रस्तुत वस्तुओं के भी नाम गिना जाती है जिनकी कीमत अथवा महत्त्व टेढ़ापन से बढ़ता है। चितवन, भौंह, कमान, गढ़ का निर्माण, पलक, केश, तरुणी, घोड़ा और तान (संगीत की) इनका मूल्य बँकाई (वक्रता) से ही बढ़ता है। तो यहाँ केवल तरुणी प्रस्तुत और शेष अप्रस्तुत हैं। पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों की 'वक्रता' इस एक गुण से संबंध-कथन होने से दीपक अलङ्कार है।

चंचल निसि उदबस रहैं, करत प्रात बसि राज।
अरविंदनि मैं इंदिरा, सुन्दर नैननि लाज ॥ मतिराम

† प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते। सा० द०

यहाँ नयनों की लाज प्रस्तुत और अरविंदों की इन्दिरा (शोभा) अप्रस्तुत है और दोनों का 'उदवस रहैं' (उजड़ी रहती हैं) और 'राज करत' इन धर्मों से संबंध कहा गया है। (रात को आँखों की लाज और कमलों की शोभा कम पड़ी रहती है पर प्रातःकाल में दोनों की वृद्धि हो जाती है।)

सरसिज से सर की शोभा,
नयनों से तेरे आनन की ।

यहाँ आनन प्रस्तुत है और सर अप्रस्तुत। दोनों का शोभा-रूप एक धर्म से संबन्ध रहने से दीपक अलङ्कार है।

दीपक और तुल्ययोगिता—

तुल्ययोगिता में केवल अनेक प्रस्तुतों **अथवा** अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्म से संबंध रहता है।

दीपक में अनेक प्रस्तुतों और अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्म से संबंध रहता है।

यदि तुल्ययोगिता और दीपक के विषय पर विचार किया जाय तो इन दो अलंकारों को पृथक्-पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि प्रस्तुत-अप्रस्तुत का एक धर्म से संबन्ध तीन प्रकार से संभव है।

(१) केवल प्रस्तुतों का एक धर्म से संबंध हो।
(२) केवल अप्रस्तुतों ,, ,, ,, ।
(३) प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का ,, ,, ।

पहले दोनों भेदों में तुल्योगिता होती है और तीसरे में दीपक। यह तो बड़ा विचित्र न्याय है। या तो तीनों के लिये तीन नाम देना उचित है या तीनों का एक ही अलङ्कार के तीन भेदों के रूप में कथन। दो को एक साथ रखकर एक को अलग

छाँट देना बुद्धि-संगत नहीं दीखता। उचित तो यही है कि तीनों को एक ही अलङ्कार के भेद मान लिया जाय। इसीलिये पंडितराज जगन्नाथ ने दीपक का खंडन कर तुल्ययोगिता में ही सबको गतार्थ कर दिया है। पर प्रश्न यह है कि यदि एक में इनका अंतर्भाव करना हो तो किसमें किया जाना चाहिये और किसका निराकरण हो? इसका उत्तर पोद्दारजी ने यह दिया है कि इस शास्त्र के आदि आचार्य भरत ने केवल चार ही अलङ्कार लिखे और उनमें दीपक भी एक है "अतः दीपक का अलंकारों में अस्तित्व न रहना युक्तियुक्त नहीं।" पोद्दारजी का यह तर्क ही युक्तियुक्त नहीं, बल्कि बड़ा लचर है। जिसे प्राचीन आचार्यों ने लिख दिया वह मान्य ही हो जाय यह कोई आवश्यक नहीं। जिसने संस्कृत साहित्य का अनुशीलन किया है वह यह अच्छी तरह जानता है कि वस्तु-स्थिति सर्वथा इसके प्रतिकूल है। पूर्ववर्त्ती आचार्यों के प्रति श्रद्धा और आदर-बुद्धि रखते हुए भी उत्तर-वर्त्ती विद्वानों ने जहाँ सिद्धान्त का प्रश्न आया है वहाँ खुलकर और बड़े कड़े शब्दों में उनके मतों का खण्डन किया है। इस-लिये केवल प्राचीनता किसी वस्तु की समीचीनता और मान्यता का आधार नहीं बन सकती, उसके लिये बुद्धि-संगत तर्क और सबल प्रमाण चाहिये। चूँकि भरत मुनि ने दीपक का उल्लेख किया है, इसीलिये उसे मान लिया जाय यह तो अपनी बुद्धि और विचारशीलता के प्रति अनास्था दिखाना है। दीपक और तुल्ययोगिता के नाम से ही इस प्रश्न का ठीक समाधान हो जाता है। दीपक 'दीपक-न्याय' के अनुसार सबको प्रकाशित कर सकता है, वह प्रस्तुत हो या अप्रस्तुत अथवा प्रस्तुताप्रस्तुत। उसका क्षेत्र सीमित नहीं—बड़ा व्यापक है; दीपक का प्रकाश समान रूप से चारों ओर फैलता है।

पर तुल्ययोगिता जैसा नाम से ही स्पष्ट है केवल तुल्यों के योग में ही हो सकती है और तुल्ययोग का तात्पर्य है केवल प्रस्तुतों का या केवल अप्रस्तुतों का संबन्ध, इसलिये उसके अंदर से प्रस्तुताप्रस्तुत-योग का क्षेत्र छूट जाता है, क्योंकि इसमें तुल्यों का योग न होकर अतुल्यों का योग है कारण कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत असमान हैं। दूसरी बात यह कि कारक आदि दीपकों का अंतर्भाव तुल्ययोगिता में किसी प्रकार नहीं हो सकता—उसके लिये दीपक की कल्पना, आवश्यक है; अतः इस दृष्टि से भी दीपक ही में तुल्ययोगिता का अंतर्भाव उचित है। इसलिये नाम की सार्थकता, व्यापकता और विषयग्राहकता की दृष्टि से तुल्ययोगिता की अपेक्षा दीपक नाम अधिक उपादेय है। अतः ये तीनों भेद दीपक के ही मानने चाहिये। पण्डितराज जगन्नाथ का तुल्ययोगिता में ही इन्हें अंतर्भूत करना इसी आधार पर खण्डित हो जाता है। उन्हें वस्तुतः दीपक में ही सबों को गतार्थ करना चाहिये था।

कारक दीपक

यदि अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो तो कारक दीपक अलंकार होता है। †

छला[1] छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि।
चूमति चाहति[2] लाय उर, पहिरति धरति उतारि॥

यहाँ नारि (नायिका)—रूप एक कर्त्ता कारक से उत्तरार्द्ध की चूमना आदि अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध रहने से कारक दीपक अलंकार है।

---

† अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥ सा० द०

१ अंगूठी। २ देखती है।

कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की तिया, बांचति धरति समेटि॥

यहाँ भी तिया (नायिका) का प्रिय का पत्र हाथ में ले उसे चूमना, सिर पर रखना, छाती से लगाना, पढ़ना और मोड़कर रख लेना इन अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध है। अतः कारक दीपक है।

घन पृथ्वी को छू छू लेता, पर्वत पर घिर आता।
मोर नचाता, नदी बहाता, शोर मचाता आता॥ नूरजहाँ

यहाँ भी एक घन (मेघ) का पृथ्वी को छू लेना, पर्वत पर घिरना, मोर नचाना आदि अनेक क्रियाओं से अन्वय होता है।

देहली दीपक

यदि एक ही पद का दो वाक्यों में अन्वय हो तो देहली दीपक अलंकार होता है।

जिस प्रकार देहली (चौखट का नीचेवाला हिस्सा जो भूमि में गड़ा रहता है) पर रखा हुआ दीपक घर के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है उसी प्रकार यदि एक ही पद दोनों ओर—आगे और पीछे के वाक्यों में—अन्वित हो तो उसे देहली दीपक अलंकार कहते हैं।

बंदउं बिधि-पद रेनु, भव-सागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा, ससि धेनु, प्रगटे खल बिष बारुनी॥

यहाँ 'प्रगटे' इस पद का पहले के 'संत सुधा ससि धेनु' और पीछे के 'खल बिष बारुनी' इन दोनों से अन्वय होता है।

शूल चुभते हैं छूते आग है जलाती ; भू को
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है ;
जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध
जड़ - चेतनों का जन्मसिद्ध अधिकार है। कुरुक्षेत्र

पहली पंक्ति में छूते का अन्वय दोनों ओर हो रहा है—शूल छूते चुभते हैं, आग छूते जलाती है, अतः देहली दीपक अलंकार है।

हौं रीझी लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही - सी होत दुति, मिलत मालती माल॥

यहाँ 'लखि' पद 'हौं लखि रीझी' (मैं देखकर रीझी) और 'लखि रीझिहौ' (उसका सौन्दर्य देख तुम भी रीझ जाओगे) इन दोनों वाक्यों में अन्वित हो रहा है, इसलिये देहली-दीपक है।

आवृत्ति दीपक

अर्थ या पद और अर्थ की आवृत्ति को आवृत्ति दीपक कहते हैं।

पदार्थावृत्ति दीपक

जहाँ पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति हो।

गरज गगन के गान! गरज गंभीर स्वरों में,
भर अपना संदेश उरों में औ' अधरों में ;
बरस धरा में, बरस सरित्, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा संताप, पाप जग का क्षण भर में। पंत

यहाँ 'गरज' और 'बरस' में पद और अर्थ की आवृत्ति से आवृत्ति दीपक है।

भलो भलाइहिं पै लहहिं, लहहिं निचाइहिं नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥

यहाँ 'लहहिं' और 'सराहिय' में पद और अर्थ की आवृत्ति है।

पोद्दारजी ने तथा उनका अन्धानुसरण करनेवाले हिन्दी के और लेखकों ने 'भिन्न-भिन्न अर्थवाले' एक ही क्रियापद की आवृत्ति में जो आवृत्ति दीपक माना है, वह मुझे समीचीन नहीं जान पड़ता। वैसे स्थलों में यमक क्यों नहीं मानेंगे? यदि यह कहें कि क्रियापद-भिन्न स्थलों में यमक और क्रियापद के प्रयोग में आवृत्ति दीपक का अवकाश है तो यह भी जबर्दस्ती ही है। न तो यमक के ही लक्षण में कहीं यह लिखा है कि क्रिया-भिन्न स्थलों में वह होगा न आवृत्ति दीपक से ही यह बात निकलती है कि इसमें भिन्नार्थ और वह भी केवल क्रिया-पद की ही आवृत्ति होनी चाहिये। यदि भिन्नार्थ की पाबन्दी रखें तो ऊपर के उदाहरण में 'गरज' और 'बरस' की आवृत्ति में पदावृत्ति दीपक न मानकर और कौन अलङ्कार माना जायगा? फिर पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति में जो पदावृत्ति दीपक माना जाता है उसमें भिन्नार्थता कहाँ रहती है?

इसलिये भिन्नार्थ और क्रियापद की ही आवृत्ति में आवृत्ति दीपक हो यह कोई आवश्यक नहीं।

बात यह है कि पद की अलग आवृत्ति में यह अलङ्कार मानने से ही भिन्नार्थता का नियम लगाना पड़ता है। वस्तुतः इसके दो ही भेद किये जा सकते हैं—(१) अर्थावृत्ति और (२) पदार्थावृत्ति।

अर्थावृत्ति दीपक

जहाँ केवल अर्थ की ही आवृत्ति हो और शब्द भिन्न हों।

प्रानप्यारे-चित्त में निवास प्रानप्यारी रखै,
प्रानप्यारो बसत हिये में प्रानप्यारी के।

'यहाँ निवास रखै' और 'बसत' इन दोनों का 'रहना' यह एक ही अर्थ है इसलिये अर्थावृत्ति दीपक है।

दिसि दिसि बिकसे कुंज बन, फूले रुचिर रसाल।

यहाँ भी 'विकसे' और 'फूले' का एक ही अर्थ है।

प्रतिवस्तूपमा

जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों में एक ही साधारण धर्म विभिन्न शब्दों से कहा जाय वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है। †

प्रतिवस्तूपमा में 'उपमा' शब्द का सादृश्यमात्र अर्थ है; प्रतिवस्तु अर्थात् प्रत्येक वाक्य के अर्थ में जहाँ उपमा अर्थात् सादृश्य हो। प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य रहते हैं—एक उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य पर दोनों के सादृश्य का शब्दत: कथन नहीं होता अपितु वह व्यङ्ग्य रहता है। दूसरी बात यह कि दोनों वाक्यों का साधारण धर्म होता है अर्थत: एक ही पर एक होने पर भी उसे दोनों वाक्यों में दो शब्दों से कहते हैं। जैसे—"मुख सुन्दर है; चन्द्रमा मनोज्ञ है", यहाँ दो वाक्य हैं—पहले को उपमेय वाक्य और दूसरे को उपमान वाक्य कह सकते हैं। दोनों में सादृश्य तो है, पर वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य है। साथ ही एक वाक्य में साधारण धर्म

† प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्। सा० द०

'सुन्दर' शब्द से और दूसरे में 'मनोज्ञ' शब्द से कहा गया है, पर वस्तुत: 'सुन्दर' और 'मनोज्ञ' शब्दों का अर्थ एक ही है— 'सुन्दर'। केवल शब्द पुनरुक्ति बचाने के लिये शब्दभेद कर दिया गया है।

लसत सूर सायक-धनु-धारी। रवि प्रताप सन सोहत भारी॥

पहला उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य है और दोनों में 'शोभना' यह एक ही साधारण धर्म 'लसत' और 'सोहत' इन दो शब्दों से कहा गया है, अत: प्रतिवस्तूपमा है।

चटक न छाँड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल रँग चीर॥

यहाँ दो वाक्य हैं—पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य। दोनों का सादृश्य वाच्य नहीं गम्य (व्यङ्ग्य) है; और 'चटक न छाँड़त' तथा 'फीको न परै' में शब्दभेद होते हुए भी दोनों का अर्थ एक ही है—फीका न पड़ना। इसलिये प्रतिवस्तूपमा है।

यह वैधर्म्यमूलक भी होती है।

विज्ञ जनन को अमित श्रम, जानत हैं नर विज्ञ।
प्रसव-वेदना दुसह सों, बाँझ न होइ अभिज्ञ॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'जानत हैं' विधि रूप से और उत्तरार्द्ध में 'अभिज्ञ न होइ' इस निषेध रूप से एक ही साधारण धर्म का कथन है।

यह मालारूप भी देखी जाती है :—

वहत जु सर्पन कौ मलय, धारत काजर दीप।
चंदहु भजत कलंक कौ, राखहिं खलन महीप॥

यहाँ एक ही साधारण धर्म 'रखना' चार बार 'वहत', 'धारत', 'भजत' और 'राखहिं' इन अनेक शब्दों से कहा गया है। अत: मालारूप प्रतिवस्तूपमा है।

दृष्टान्त

यदि उपमेय, उपमान और उनके साधारण धर्मों का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो तो दृष्टान्त अलङ्कार होता है।†

दृष्टान्त का अर्थ है उदाहरण। किसी बात को कहकर उसकी सत्यता प्रमाणित करने के लिये हम उसी ढंग की दूसरी बात कहा करते हैं—वह दूसरा वाक्य उदाहरण रूप में आकर पहले कथन की प्रामाणिकता पर मानों मुहर लगा देता है, जैसे 'उसका मुख निसर्ग सुन्दर है ; चन्द्रमा को प्रसाधन की क्या आवश्यकता ?' यहाँ पहला उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य है ; दोनों सर्वथा स्वतंत्र हैं, पर दोनों को ठीक से देखने पर ऐसा मालूम पड़ता है जैसे दोनों में एक ही विचार दो रूपों में कहा गया है—किसी सुन्दर वस्तु का अकृत्रिम रूप से सुंदर लगना। तो ये दो पृथक्-पृथक् वाक्य भी जैसे बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से संबद्ध हैं।

जब हम दर्पण में अपने को देखते हैं तो हम होते हैं बिम्ब और दर्पण में जो हमारी छाया पड़ती है वह है प्रतिबिम्ब। जैसे हममें और हमारी छाया में अभेद रहते भी भेद है—हम सत्य हैं और छाया असत्य, हम सचेतन हैं छाया अचेतन, वैसे ही उनमें भेद रहते भी अभेद है—वे दो हैं, एक सत्य, दूसरा असत्य, एक सचेतन दूसरा अचेतन, फिर भी दोनों में हमीं—हमारा ही व्यक्तित्व वर्तमान है। इस प्रकार दोनों के भेद में भी अभेद और अभेद में भी भेद है तथा दोनों में बिम्बप्रतिबिम्ब संबन्ध है। ऐसे ही दो भिन्न वाक्यों में भी यदि एक ही मूल-

† दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। सा० द०

बिन्दु उपस्थित किया गया हो, तो उनमें बिम्बप्रतिबिम्ब की कल्पना करेंगे।

१ दृष्टान्त में दो स्वतंत्र वाक्य रहते हैं।

२ दोनों में एक ही मूल विचार दो रूपों में व्यक्त रहता है अर्थात् दोनों के धर्म सदृश होते हैं (एक नहीं)।

३ इस सादृश्यका वाचक कोई शब्द नहीं रहता, वह व्यंङ्ग्य होता है।

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सोहाई॥

यहाँ सत्संगति से शठ का सुधरना वैसा ही है जैसा पारसमणि के स्पर्श से कुधातु (बुरे द्रव्य) का चमक उठना। यहाँ प्रथम वाक्य की सत्यता प्रतिपादित करने के लिये दृष्टान्त—उदाहरण रूप में दूसरा वाक्य आया है और दोनों में एक ही विचारबिन्दु है—अच्छे के साथ से बुरे का अच्छा हो जाना। इस प्रकार दोनों वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से यह दृष्टान्त अलंकार है।

प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम-जस-संग।
दारु बिचार कि करइ कोउ, बंदिय मलय-प्रसंग॥

यहाँ तुलसीदास अपनी कविता के विषय में कहते हैं कि इसमें कोई विशेषता नहीं रहने पर भी केवल राम-चरित-वर्णन से लोग इसे अवश्य पसंद करेंगे। चंदन की काष्ठता पर कोई ध्यान नहीं देता—मलय के संसर्ग से वह साधारण लकड़ी होकर भी आदर पाता है। इन दोनों वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव है—दोनों एक ही आशय की दो अभिव्यक्ति से दीखते हैं अर्थात् अच्छे के संसर्ग से बुरे भी आदर पाते हैं।

भरतहिं होइ न राजमद, बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि, छीरसिंधु बिनसाइ॥

यहाँ भरत (उपमेय) का 'बिधिहरिहरपद पाकर भी राजमद न होना' और क्षीरसिंधु (उपमान) का 'कांजी की बूँदों से न बिगड़ना' इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

एक म्यान में दो तलवारें कभी नहीं रह सकती हैं।
किसी और पर प्रेम नारियाँ पति का क्या सह सकती हैं? नूर०

एक म्यान में दो तलवारों का रहना वैसे ही असंभव है जैसे एक पुरुष का दो नारियों पर अनुरक्त रहना। इस प्रकार यहाँ दोनों वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

वैधर्म्य से भी दृष्टान्त होता है। जैसे :—

तुम्हें देख उस मृगनयनी की मनोव्यथा मिट जाती।
बिना चंद्र के उगे कुमुदिनी, कहो, कहीं सुख पाती? *

यहाँ उत्तरार्द्ध के निषेधरूप वाक्यार्थ और पूर्वार्द्ध के विधि-रूप वाक्यार्थ में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

निदर्शना

जहाँ वस्तुओं का परस्पर संबन्ध संभव अथवा असंभव होकर (अर्थ की संगति के लिये) उनमें सादृश्य का आक्षेप करावे वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है।†

निदर्शना का अर्थ है उदाहरण या दृष्टान्त। निदर्शना में दो ऐसी बातें एक साथ कही जाती हैं जिनका संबंध कहीं तो संभव और कहीं असंभव होता है पर दोनों ही स्थलों पर जब तक उनमें सादृश्य की कल्पना नहीं करते तब तक वे वाक्य अजीब ऊटपटाँग—असंबद्ध से दीखते हैं; उन दोनों वाक्यों में

---

† संभवन् वस्तुसम्बन्धोऽसंभवन् वाऽपि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना। सा० द०

कोई संगति नहीं मालूम पड़ती पर सादृश्य के आक्षेप के द्वारा परस्पर निरपेक्ष या असंबद्ध सी उन बातों को सापेक्ष या सुसंबद्ध रूप में उपस्थित कर उनकी संगति दिखायी जाती है। जैसे कोई कहता है कि "उन्हें समझाना पत्थर पर दूब जमाना है।" यहाँ समझाना एक बात है और पत्थर पर दूब जमाना दूसरी बात ; दोनों में कोई संबंध या सामंजस्य नहीं। समझाना मानसिक व्यापार है और पत्थर पर दूब जमाना शारीरिक ;—दोनों सर्वथा भिन्न क्रियायें हैं। फिर भी दोनों को पूर्वोक्त वाक्य में एकत्र रखा गया है जो सर्वथा निरर्थक सा प्रतीत होता है। यहाँ दो वस्तुओं का संबंध असंभव है। अब यदि दोनों में सादृश्य की स्थापना कर दें तो वह असंबद्धता दूर हो जाती है—तब अर्थ होगा 'उन्हें समझाना पत्थर पर दूब जमाने के समान (कठिन) है।' वस्तुत: वक्ता का लक्ष्य समझाने की कठिनाई पर जोर देना होता है और उसके लिये वह ऐसा निदर्शन या उदाहरण रखता है जो उसके भाव को पूर्ण स्पष्ट कर दे। पत्थर पर दूब जमाना असंभवप्राय है और उसके सादृश्य से व्यक्तिविशेष को समझाना भी असंभव प्राय प्रमाणित होता है। ऐसे ही कोई कहता है "जो देश-सेवा करते हैं वे तलवार की धार पर चलते हैं",यहाँ वास्तव में दो वाक्य हैं--

(१) जो देश-सेवा करते हैं ;

(२) वे तलवार की धार पर चलते हैं।

पर संक्षेप के लिये दोनों को एक साथ रख दिया गया है और साथ रहकर दोनों असंगत हो जाते हैं—देश-सेवा करना और बात है और तलवार की धार पर चलना और बात। फिर भी दोनों बातें यहाँ अभिन्न रूप में जोड़ दी गयी हैं--दोनों को सर्वथा एक कर दिया गया है। तब आग-पानी की तरह उनमें कोई मेल नहीं रह जाता। उस समय अर्थ

संघटित करने के लिये दोनों में सादृश्य की कल्पना कर लेते हैं 'देश सेवा करना तलवार की धार पर चलने के समान (दुरूह कार्य) है' और तब अर्थ सुसंगत होता है। इसीलिये लक्षण में कहा गया है कि दो वाक्यों में अर्थ-संगति के लिये सादृश्य-कल्पना अनिवार्य होती है।

कहीं यह वस्तु-संबंध संभव भी होता है तब भी सादृश्य का आक्षेप आवश्यक होता है, जैसे "सूर्य संध्या को डूबता क्या है संसार को यह बतलाता है कि जो दूसरों को संतप्त करते हैं (जैसा मध्याह्न को मैंने किया) उनकी अंत में यही अवस्था होती है---उनका अधःपतन हो जाता है।" यहाँ ऐसे वक्ता के रूप में सूर्य का अन्वय संभव है, पूर्वोक्त वाक्यों की तरह असंभव नहीं। फिर भी सूर्य यह प्रमाणित करने के लिये ही तो अस्त नहीं होता—उसका अस्त होना तो प्राकृतिक धर्म है। तो यहाँ भी वाक्य में जो असंगति दीखती है वह इस प्रकार की कल्पना के बाद मिट जाती है कि सूर्य का अस्त होना इस बात को प्रमाणित करने के समान है कि दूसरों को संतप्त करने वाले का अधःपतन इसी प्रकार हुआ करता है।

कहीं तो यह वाक्यार्थगत होती है और कहीं पदार्थगत।

संभव वस्तुसंबंध :—

तजि आसा तन प्रान की, दीपहिं मिलत पतंग।
दरसावत सब नरन को, परम प्रेम को ढंग॥

'शरीर और प्राण का मोह छोड़ पतंग दीपक पर जलकर मनुष्यों को उत्तम प्रेम का ढंग दिखाता है'; यहाँ पतंग प्रेम का ढंग सिखाने के लिये दीपक पर नहीं जल मरता पर किसी का इस प्रकार प्रेम की उत्तमता प्रदर्शित करने के लिये जल मरना संभव है। इन दोनों वाक्यों में इस प्रकार बिम्बप्रतिबिंब-

भाव की संगति होगी कि प्राण का लोभ छोड़ पतंग का दीपक पर जल मरना इस बात को प्रमाणित करने के समान है कि सच्चा प्रेम करनेवाले इसी तरह अपने प्राण को प्रेमपात्र के लिये अर्पित कर देते हैं।

फूल, फल, दल दे सबों को सर्वदा
वृक्ष यह आदर्श हैं सिखला रहे—
है मिली संपत्ति जिनको, दूसरों
का उन्हें सत्कार करना चाहिये। ७

वृक्ष का सबों को अपने फल-फूल-पत्ते देना यह आदर्श सिखाने के सदृश है कि जो सम्पन्न हैं उन्हें अपनी सम्पत्ति को दूसरों के सत्कार में व्यय करना चाहिये। यहाँ भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बिम्बप्रतिबिम्बभाव की कल्पना करनी पड़ती है। यह भी संभव वस्तुसम्बन्ध का उदाहरण है—इस प्रकार का आदर्श रखना संभावित है।

व्यर्थ तप्त करता जो जग में
कौन फूलता - फलता ?—
सूचित करता यह सन्ध्या को
रवि नीचे है ढलता। ७

दिन भर अपनी प्रखर किरणों से संसार को तप्त करनेवाले सूर्य का सन्ध्या को अस्त होना यह सूचित करने के समान है कि जो व्यर्थ दूसरों को तप्त करता है (सताता है) वह चिरकाल तक फूलता-फलता नहीं—अंततः उसका पतन अवश्य होता है।

असंभव वस्तुसम्बन्ध :—

जे अस भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान-हेतु स्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥

जो सर्वसुलभ, सुगम भक्ति को छोड़ केवल ज्ञान के चक्कर में पड़े रहते हैं वे घर की कामधेनु को छोड़ दूध के लिये आक (वनस्पतिविशेष) ढूँढ़ते फिरते हैं। यहाँ दो वाक्य हैं—भक्ति छोड़कर ज्ञान के लिये श्रम करना और घर की कामधेनु को छोड़ दूध के लिये आक तलाशते चलना ;—इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है—दोनों दो चीजें हैं, पर कवि कहता है कि जो भक्ति के बदले ज्ञान के पीछे माथापच्ची करते हैं वे कामधेनु का परित्याग कर दूध की इच्छा से आक ढूँढ़ते हैं। यह उक्ति अजीब-सी लगती है—इसमें संगति का अभाव है और वह तब तक संगत नहीं होती जब तक दोनों वाक्यों में सादृश्य की भावना नहीं हो लेती। सादृश्य का आक्षेप कर लेने पर वाक्यार्थ का अवगम इस प्रकार होता है कि सुगम भक्ति को छोड़ ज्ञान के लिये श्रम करना घर की कामधेनु को छोड़ दूध के लिये आक की खाक छानने के समान उपहासास्पद है—व्यर्थ है। इस उदाहरण में दोनों वाक्यों का असंभव संबंध बिम्बप्रतिबिम्बभाव—सादृश्य की कल्पना कराता है।

ठीक यही बात नीचे के उदाहरण में भी है।

सुनु खगेस ! हरि-भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत जड़ करनी॥

हरिभक्ति को तजकर दूसरे उपाय से सुख पाना, नाव को छोड़ तैर कर समुद्र पार करने के सदृश असंभव और जड़ता-सूचक है। इस प्रकार इस में उपमानोपमेयभाव द्वारा संगति बैठती है।

बरनत नायक-नायिका, हरि-राधा तजि आन।
सो कवि त्यागत कल्पतरु, थूहर गहत अज्ञान॥ भा० भू०

इसमें पूर्वार्द्ध उपमेय-वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान-

वाक्य। जो कवि राधाकृष्ण को छोड़ अन्य नायक-नायिका का वर्णन करते हैं वे मंदमति कल्पतरु को त्याग कर थूहर (वृक्ष-विशेष) का ग्रहण करते हैं। इस असंभव संबंध को बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव (सादृश्य) के आक्षेप के द्वारा ऐसे संगत करेंगे कि राधाकृष्ण को छोड़ अन्य नायक-नायिका के वर्णन का श्रम कल्पतरु के बदले थूहर के वृक्ष को पकड़ने के प्रयास-सा अज्ञान-प्रेरित है।

इस मृदुल तन को तपस्या के कठिन
कार्य में विनियुक्त जो मुनि कर रहा,
वह कमल की पंखुड़ी की धार से
डाल तरु की चाहता है काटना। ❀

शकुन्तला को आश्रम के कार्यों में व्यापृत देखकर दुष्यन्त की उक्ति है—जो मुनि (कण्व) इस कोमल शरीर से तपस्या के कठिन-कठोर कार्य करवा रहा है वह कमल की पंखुड़ी की धार से वृक्ष की डाल काटना चाहता है। कण्व शकुन्तला से आश्रम का कार्य करवा रहे हैं; वे कमल की पंखुड़ी से वृक्ष की डाल तो काट नहीं रहे हैं। पर यहाँ इन दोनों असंबद्ध बातों को एक साथ कर दिया गया है—यह वस्तुसंबंध असंभव है—किसी से कोई काम लेना और बात है और कमल की पंखुड़ी से डाल काटना और। अत: इनकी संगति इस प्रकार बैठती है कि शकुन्तला के कोमल शरीर को तपस्या के कठोर कार्यों में नियुक्त करना वैसा ही अनुचित है जैसा कमल की पंखुड़ी से वृक्ष की डाल काटने की इच्छा या चेष्टा।

मालारूप

गरल पिअन अरु जियन चह, अगिनि धारि चह सीत।
ब्यालहिं धरि सुख चहत जो, सोइ करै खल मीत॥

खल को मित्र बनाना विष पीकर जीने की, अग्नि से शीतलता अनुभव करने की और सर्प से सुख पाने की इच्छा के समान असंगत है।

द्वितीय निदर्शना

यदि उपमेय का गुण उपमान में अथवा उपमान का गुण उपमेय में आरोपित हो तो वहाँ भी निदर्शना होती है।

उपमेय के गुण का उपमान में आरोप :—

रवि ससि नखत दिपहिं ओही जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥ जायसी

यहाँ पद्मावती की दन्त-ज्योति (उपमेय) से रवि, शशि, नक्षत्र, रत्न, माणिक्य और मोती (उपमानों) का ज्योतित होना कहा गया है। अतः उपमेय का गुण (दीप्त होना—चमकना) उपमान में कहे जाने से निदर्शना का दूसरा भेद है।

सखे, मधुरता जो मैंने उसके अधरों में पायी।
वही सुधा में, मधु में, मृद्वीका के रस में छायी॥ ❀

अधर (उपमेय) की मधुरता का सुधा, अमृत और द्राक्षा (उपमानों) में आरोप हुआ है।

उपमान के गुण का उपमेय में आरोप :—

सुजन सभागिनि के बसै, बैननि सुधा-मिठास।
कुसुम-झरन कलहास में, मुख में चंद्र-प्रकास॥

यहाँ वचन (उपमेय) में सुधा (उपमान) की मिठास (गुण) का आरोप है ; वैसे ही मधुर हास में पुष्प-वर्षा का और मुख में चंद्र की प्रभा का।

मैं मृग, मीन, मृनालन की छवि
'दास' उन्हीं अँखियाँन में देख्यौ।

यहाँ मृग, मीन आदि उपमानों की छवि का आँखों (उपमेय) में आरोप है।

उदाहरण

यदि कोई बात कहकर उसके स्पष्टीकरण के लिये वैसी ही दूसरी बात कही जाय तो उदाहरण अलङ्कार होता है।

उदाहरण का अर्थ स्पष्ट है। अपने अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम प्राय: इसका सहारा लिया करते हैं। कोई कहे कि 'लाख उपाय कीजिये कुटिलों की कुटिलता नहीं छूटती, जैसे कुत्ते की पूंछ में कितना भी घी मलिये वह सीधी नहीं हो सकती' तो इसे ही उदाहरण कहेंगे।

पोद्दारजी ने जो यह कहा है कि पहले सामान्य बात कह-कर विशेष रूप में उदाहरण देने में उदाहरण अलङ्कार होता है वह ठीक नहीं। उदाहरण में सामान्य-विशेष-भाव का रहना अनिवार्य नहीं है।

जगत जनायो जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाहिं॥

जिस ईश्वर ने सब कुछ का ज्ञान कराया उसे ही हम नहीं जान सके जैसे आँखों ही से सारी वस्तुएँ देखते हैं पर आँखें खुद नहीं देखी जातीं। यहाँ पूर्वार्द्ध में कही हुई बात के लिये उत्तरार्द्ध उदाहरण के रूप में कहा गया है।

इसमें तो दोनों ही विशेष वाक्य हैं अत: पोद्दारजी के

अनुसार सामान्य-विशेष-भाव वाली पाबन्दी कहाँ लागू होती है ?

बरषहिं जलद भूमि नियराये । जथा नवहिं बुध बिद्या पाये ॥

वर्षुक मेघ पृथ्वी के निकट आकर बरसते हैं जैसे विद्वान् विद्या पाकर विनम्र हो जाते हैं। यहाँ भी दोनों वाक्य विशेष ही हैं।

अनरस हू रस पाइये, रसिक! रसीली पास।
जैसे साँठे की कठिन, गाँठो भरी मिठास॥

हे रसिक! रसीली के पास उसके अनरस रहने (मान करने) पर भी आनंद आता है जैसे ईख (साँठे) की कठिन गाँठ में भी मिठास भरी रहती है। पूर्वार्द्ध के लिये उत्तरार्द्ध उदाहरण के रूप में उपन्यस्त है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन पाया जाय वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है।†

व्यतिरेक का अर्थ है विशेष (वि) आधिक्य (अतिरेक), पर आधिक्य किसका और किसकी अपेक्षा? उसीका लक्षण में उत्तर है। उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा उत्कर्ष इस अलङ्कार का विषय है। प्रायः और सभी अलङ्कारों में उपमेय की अपेक्षा उपमान की उत्कृष्टता का वर्णन रहता है पर यहाँ उसका विपर्यय पाया जाता है।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन चार प्रकार से संभव है :—

(१) उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का कारण-निर्देश हो।

---

† उपमानादुपमेयस्य आधिक्ये व्यतिरेकः।

(२) उपमेय के उत्कर्ष का कारण-निर्देश हो।

(३) उपमान के अपकर्ष का कारण-निर्देश हो।

(४) उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष, दोनों के कारण का अभाव हो।

कई दूसरे अलङ्कारों की भाँति कुछ लोगों ने व्यतिरेक के भी २४ या ४८ भेद किये हैं जो मेरे जानते कोई महत्त्व नहीं रखते।

१ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का कारण-निर्देश :—

पावक-झर ते मेह-झर, दाहक दुसह बिसेख।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख॥

यहाँ पावक-झर उपमान और मेह-झर उपमेय है पर पावक-झर की अपेक्षा मेह-झर का उत्कर्ष दिखाया गया है क्योंकि जहाँ पावक-झर के स्पर्श से शरीर जलता है वहाँ मेह-झर को देखकर ही शरीर जलने लगता है (वियोगियों के लिये उद्दीपन होने से)। यहाँ उपमान के अपकर्ष का—स्पर्श से शरीर जलना और उपमेय के उत्कर्ष का—दर्शनमात्र से शरीर जलना कारण कहा गया है।

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ किन्तु सुरसरिता कहाँ सरयू कहाँ
वह मरों को मात्र पार उतारती, यह यहीं से जीवितों को तारती॥

यहाँ उपमेय (साकेत) का उपमान (स्वर्ग) की अपेक्षा उत्कर्ष बतलाया गया है पर वह साक्षात् न होकर उभयत्र स्थित दो नदियों के द्वारा निर्दिष्ट है। स्वर्ग की गंगा केवल मरे हुओं को मुक्ति देती है अतः उसकी अपेक्षा सरयू जो जीवितों के मोक्ष का पथ प्रशस्त करती है कहीं श्रेष्ठ है। यहाँ स्वर्गंगा

के अपकर्ष का कारण (मरों को तारना) और सरयू के उत्कर्ष का कारण (जीवितों को पार उतारना) दोनों का कथन है।

२ उपमेय के उत्कर्ष का कारण-निर्देश :—

प्रगट तीन हूँ लोक में, अचल प्रभा करि थाप।
जीत्यो 'दास' दिवाकरहिं, श्रीरघुबीर प्रताप॥

यहाँ सूर्य (उपमान) की अपेक्षा रामप्रताप (उपमेय) का उत्कर्ष-वर्णन है, साथ ही उपमेय के उत्कर्ष का कारण पूर्वार्द्ध में निर्दिष्ट है—'तीनों लोकों में प्रकाश करना' और 'अचल प्रभा को स्थापित करना'।

ज्ञानयोग से हमें हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व, कला है। गुप्त

यहाँ वियोग के उत्कर्ष के कारणों का उत्तरार्द्ध में निर्देश है पर ज्ञानयोग के अपकर्ष का कारण उक्त नहीं है।

३ उपमान के अपकर्ष का कारण-निर्देश :—

जनम सिंधु, पुनि बंधु बिष, दिन मलीन, सकलंक।
सिय-मुख-समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक॥

यहाँ चंद्र की अपेक्षा सीता के मुख का आधिक्य-वर्णन है और उपमान के अपकर्ष के कारणों का पूर्वार्द्ध में शब्दतः कथन है। जिसकी उत्पत्ति खारे समुद्र से, जिसका बंधु हलाहल (विष), जो दिन को प्रभाहीन और साथ ही सकलंक है उससे उत्तम-कुलोत्पन्न, सद्बन्धु-सम्पन्न, अहर्निश प्रभा बिखेरनेवाले और कलंकरहित सीता के मुख की तुलना भला कौन दुर्विदग्ध करेगा ?

गिरा मुखर, तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।
बिष बारुनी बन्धु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमु बैदेही।

यहाँ सरस्वती, पार्वती, रति और लक्ष्मी (उपमानों) के अपकर्ष के कारण उक्त हैं पर सीता (उपमेय) के उत्कर्ष का कारण नहीं कहा गया है।

४ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के कारण का न कहना :—

कोमलतर सरसिज से भी तेरा कर है सुकुमारि।

यहाँ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष इन दोनों में किसी का कारण नहीं कहा गया है। उपमान (सरसिज) की अपेक्षा उपमेय (कर) के उत्कर्ष-वर्णन (कोमलतर कहने) से व्यतिरेक अलङ्कार है।

जिनके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे।

यहाँ यश और प्रताप (उपमेय) को चन्द्र और सूर्य (उपमान) से उत्कृष्ट कहा गया है पर उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के अपकर्ष का कारण निर्दिष्ट नहीं है।

सहोक्ति

'सह' आदि के बल से जहाँ एक शब्द से अनेक अर्थ निकलें वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है। †

सहोक्ति का अर्थ है साथ कहना। अनेक वस्तुओं के सह-भाव में यह अलङ्कार होता है। इसमें साथ, सह, संग आदि सहार्थक शब्दों की सहायता से एक पद के द्वारा अनेक अर्थों को बताया जाता है पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि उनमें जो समकालिकता वर्णित रहती है उस में अति-शयोक्ति रहा करती है अर्थात् दो क्रियाओं के कारण-कार्य-

---

† सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्। का० प्र०

भाव—पूर्वपश्चाद्भाव का विपर्यय कर देते हैं—और इसी पूर्वपश्चाद्भाव के विपर्यय के आधार पर सहादि के बल से अनेक अर्थों की उक्ति में सहोक्ति का चमत्कार रहता है। चमत्कार से रहित केवल साथ के वर्णन में अलङ्कार नहीं होता—जैसे राम और श्याम साथ गये। दूसरी बात यह कि जिन दो क्रियाओं का एक साथ होना वर्णन किया जाता है उन में प्रधानगौण-भाव भी रहता है—उन में एक तो प्रधान होती है और दूसरी अप्रधान। दोनों की प्रधानता में दीपक, तुल्ययोगिता का अवकाश है।

भौंहनि संग चढ़ाइयौ, कर गहि चाप मनोज।
नाह-नेह संग ही बढ़्यौ, लोचन-लाज, उरोज।

नायिका के यौवन का वर्णन है—भौंहों की कुटिलता के साथ काम ने धनुष चढ़ाया। तात्पर्य यह कि उन बंकिम भौंहों से मन में कामविकार उत्पन्न होता है। वैसे ही प्रिय का प्रेम, नायिका के नेत्रों में लाज और स्तन साथ ही बढ़े। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'संग' शब्द के बल से भौंहों और धनुष का चढ़ाना साथ ही वर्णित है। उसी प्रकार उत्तरार्द्ध में भी 'संग' की सहायता से प्रेम, लोचन और स्तन का साथ बढ़ना कहा गया है।

ऊपर कहा गया है कि सहोक्ति में अतिशयोक्ति का पुट सदा रहता है। इस उदाहरण में भी, भौंहों में वक्रता आने के बाद काम की उत्पत्ति होती है, पर दोनों का साथ ही होना वर्णन किया गया है; वैसे ही स्तन बढ़ने के बाद लाज और प्रेम उत्पन्न होते हैं, पर तीनों को साथ ही कर दिया गया है। इस प्रकार कार्य-कारणभाव को उलट कर एक साथ कहने से अतिशयोक्ति निष्पन्न होती है। इसी प्रकार सभी उदाहरणों में देखना चाहिये।

सकुच संग कुच जुग बढ़त, कुटिल भौंह दृग संग।
मनमथ संग नितंब बढ़ि, बिलसत तरुनी अंग॥

यहाँ भी नायिका के यौवन का वर्णन है। संकोच के साथ स्तन, टेढ़ी भौंहों के साथ आँखें और काम के साथ कटिभाग बढ़ रहे हैं। यहाँ संग शब्द की सहायता से 'बढ़ने' से सबका संबंध कथित है।

बिहँसि केलि-मंदिर गई, लख्यौ न जिय को नाथ।
नैनन तें जल करन तें, बलय गिरे एक साथ॥

केलिभवन में प्रियतम को न पा नायिका के हाथों से वलय (अतिशय खिन्नताजन्य कृशता से) और नेत्रों से आँसू साथ ही गिरे। यहाँ भी आँसू और वलय का साथ ही गिरना उक्त है।

निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उरसे, मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल निज शस्य-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।—पंत

यहाँ 'साथ ही' शब्द की सहायता से नायिका की पलकों का नीचे से (भूमि से) और नायक की विकलता का हृदय से उठना कहा गया है। यथासंख्य के मिश्रण से इसकी चारुता और भी बढ़ गयी है।

जनक निरासा, दुष्ट नृपन की आसा,
पुरजन की उदासी, सोक रनिवास-मनु के।
बीरन के गरब गरूर भरपूर सब,
भ्रम मोह आदि मुनि कौसिक के तनु के।
'हरिचंद' भय देव-मन के, पुहुमि भार,
विकल बिचार सबै पुरनारी जनु के।

संका मिथिलेस की, सिया के उर सूल सबै,
तोरि डारे रामचंद्र साथै हरधनु के।

यहाँ शिवधनु के भंग के साथ जनक की निराशा आदि अनेक वस्तुओं का भंग करना कहा गया है।

विनोक्ति

यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के बिना अशोभन (असुन्दर) या शोभन (सुन्दर) बतायी जाय तो विनोक्ति अलंकार होता है।†

विनोक्ति का अर्थ है विनार्थक शब्द की उक्ति। इस अलङ्कार में बिना या तदर्थवाचक हीन, रहित आदि शब्दों का प्रयोग रहता है। कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के बिना या तो सुंदर लगती है या असुंदर। दोनों ही अवस्थाओं में इस अलङ्कार का अवकाश है।

अशोभन की विनोक्ति—

बिना पुत्र सूना सदन, गत-गुन सूनी देह।
बित्त बिना सब सून्य है, प्रियतम बिना सनेह॥

यहाँ पुत्र के बिना घर, गुण के बिना शरीर, धन के बिना सब कुछ और प्रियतम के बिना स्नेह की अशोभनता बतायी गयी है अर्थात् इनके बिना ये वस्तुएँ अच्छी नहीं लगतीं।

लसत न पिय अनुराग बिन, तिय को सरस सिंगार।
बिदुषन को बैराग बिन, त्यौं बेदांत बिचार॥

यहाँ पति के प्रेम बिना स्त्री के शृंगार की और वैराग्य-रहित पंडितों की वेदांत-चर्चा की अशोभनता कही गयी है।

---

† विनोक्तिर्यद् विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा। सा० द०

तात्पर्य यह कि पति-प्रेम वंचित नारी का शृंगार और विरक्ति-विहीन का वेदान्त-विचार नहीं शोभता।

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।—पंत

यहाँ दुःख के बिना सुख और आँसू के बिना जीवन की अरमणीयता कथित है।

बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

यहाँ वस्त्र के अभाव में नारी की अरमणीयता बतायी गयी है।

शोभन की विनोक्ति—

देखत दीपति दीप की, देत प्राण अरु देह।
राजत एक पतंग में, बिना कपट को नेह॥

बिना कपट का ही स्नेह रमणीय—सुंदर होता है। छल-कपटयुक्त प्रेम भी कोई प्रेम है? तो यहाँ कपट से रहित प्रेम की शोभनता कहने से विनोक्ति है।

बिन घन निर्मल सरद-नभ, राजत है निज रूप।
अरु रागादिक द्वेष बिन, मुनि-मन बिमल अनूप॥

यहाँ मेघ के बिना शरत्कालीन आकाश और रागादि-दोष-रहित मुनियों के मन की सुंदरता कही गयी है।

कहीं शोभन-अशोभन दोनों के उदाहरण एकत्र भी संभव हैं। जैसे—

लाज बिना राजत नहीं, कुलतिय, लोचन, त्याग।
लाज बिना राजत सही, गनिका, हरिजन, फाग॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में अशोभन की और उत्तरार्द्ध में शोभन की विनोक्ति है। इस उदाहरण में दीपक या तुल्ययोगिता के सांकर्य से चमत्कार और भी बढ़ जाता है।

समासोक्ति

यदि प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की प्रतीति हो तो समासोक्ति अलङ्कार होता है। †

समासोक्ति का अर्थ है समास (संक्षेप) से उक्ति (कथन)। इसमें संक्षिप्त उक्ति इस प्रकार रहती है कि वर्णन होता है केवल प्रस्तुत का और उससे प्रतीति होती है अप्रस्तुत की भी। एक के वर्णन से दो का बोध कराना संक्षेप नहीं तो और क्या है ?

प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति तीन प्रकार से संभव है :—

(१) समान विशेषणों से—ऐसे विशेषण जो प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत में भी लग सकते हों।

(२) समान कार्य से—प्रस्तुत और अप्रस्तुत के कार्य समान हों—एक-से हों।

(३) समान लिङ्ग से—प्रस्तुत और अप्रस्तुत में लिङ्ग-साम्य हो।

यद्यपि विशेषण, कार्य और लिङ्ग का स्पष्ट स्वरूप-पार्थक्य कठिन है, जहाँ एक रहेगा वहाँ दूसरा भी हो सकता है, पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार जहाँ जिसकी प्रधानता हो वहाँ तत्कृत अलङ्कारता माननी चाहिये।

विशेषण-साम्य से—

चंपकलता सुकुमार तू, धन तुव भाग्य बिसाल।
तेरे ढिग सोहत सुखद, सुंदर स्याम तमाल॥

यह वर्णन है प्रस्तुत चम्पकलता का जो तमालवृक्ष से लिपटी है—'अरी चम्पकलते ! तू बड़ी कोमल है, तू धन्य और बड़ी

† प्रस्तुतात् अप्रस्तुतप्रतीतिः समासोक्तिः।

भाग्यशालिनी है जो तेरे समीप सुखद, सुंदर, श्याम तमाल शोभ रहा है।'

यहाँ विशेषण कुछ ऐसी विशेषतावाले हैं कि इस चम्पक-लता के वर्णन से अप्रस्तुत 'राधा' की भी प्रतीति होती है, वे दोनों—प्रस्तुत-अप्रस्तुत, चम्पा-राधा—के पक्षों में संघटित हो जाते हैं। 'राधे ! तू बड़ी कोमल है, तेरे भाग बहुत बड़े हैं जो तेरे पास सुखद, सुंदर श्याम तमाल (कृष्ण) शोभ रहा है।'

अतः यहाँ प्रस्तुत चंपकलता के वर्णन से, विशेषणों के साम्य के आधार पर, अप्रस्तुत राधा की प्रतीति होने से समासोक्ति अलङ्कार है।

पीली पड़, निर्बल, कोमल,
कृश - देह - लता कुम्हलाई
विवसना, लाज में लिपटी,
साँसों में शून्य समाई !—पंत

चाँदनी के इस प्रस्तुत वर्णन से विशेषणों की समानता के कारण पाण्डुवर्ण, क्षीणकाय, किसी कोमल नारी की प्रतीति होती है।

उपर्युक्त उदाहरणों में विशेषण साधारण (अश्लिष्ट) हैं। कहीं श्लिष्ट विशेषण भी रहते हैं, जैसे—

मुख पियूष-मय, सीत रुचि, ऋषि-संभव, सुचि देह।
पै ससि सेवत बारुनी, अति अनुचित गति एह॥

यहाँ चंद्रमा का वर्णन प्रस्तुत है, जिसका मुख अमृतमय, प्रभा शीतल तथा शरीर पवित्र है और जो ऋषि से उत्पन्न है (चंद्रमा की उत्पत्ति अत्रि-ऋषि के नेत्र से मानी जाती है) तथा जो वारुणी (पश्चिम दिशा और मदिरा) का सेवन करता है। तुल्य विशेषणों की सहायता से किसी सर्व-गुण-सम्पन्न मदिरा-

पान में लीन ब्राह्मणपुत्र का अप्रस्तुत अर्थ भी प्रकट होता है। 'वारुणी सेवत' विशेषण श्लिष्ट होने से यह श्लेषमूला समासोक्ति है, जिसका एक अर्थ है पश्चिम दिशा में जाना और दूसरा मदिरा पीना।

कार्यसाम्य से—

मृगनैनी कुच सुघर सों, पट हटाय हठि देत।
मलयानिल तू धन्य अति, आलिंगन-सुख लेत॥

पवन के जोर से चलने से नायिका का वस्त्र (अंचल) स्तन पर से हट जाता है। यही यहाँ प्रस्तुत वर्णन है। इसी को कवि कहता है कि 'अरे मलयपवन ! तू धन्य है जो हठपूर्वक मृगनयनी के सुन्दर स्तन पर से अंचल हटाकर उसका आलिंगन-सुख लेता है।' यहाँ पवन की ऐसी चेष्टा में किसी हठकामुक व्यक्ति की प्रतीति होती है जो बलपूर्वक (नायिका की इच्छा के विरुद्ध भी) उसके स्तन पर के आवरण को हटाकर आलिङ्गन करता है। इस प्रकार प्रस्तुत पवन की चेष्टा से अप्रस्तुत हठकामुक के कार्य की प्रतीति होने से कार्य-साम्य के आधार पर समासोक्ति अलङ्कार है।

कोषबिद्ध तन बद्ध ह्वै, गरे परो बनि हार।
सरस सुमन बड़ भाग तव, उर पै करत बिहार॥

यहाँ प्रस्तुत पुष्प का अपने को विद्ध और बद्ध कराकर (शरीर को छिदवाकर एवं बंधन में पड़कर) भी नायिका के स्तनों पर विहार करने की चेष्टा से अप्रस्तुत रूप में किसी ऐसे नायक की व्यञ्जना होती है जो नायिका-संभोग-जनित आनंद के लिये सभी प्रकार के कष्ट सह रहा हो।

दिनकर कुल में दिव्य-जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के संग,

मुरझे पत्रों की साड़ी में,
ढँककर अपने कोमल अंग,
सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रांति अपार। —पंत

यहाँ 'छाया' के प्रस्तुत वर्णन में कार्यसाम्य के आधार पर किसी सत्कुलोत्पन्न, आडम्बरहीन जीवन बितानेवाली परोपकारपरायणा सती-साध्वी नारी का बोध होता है।

लिङ्गसाम्य से :—

लोभ लग्यौ निसि दिन भ्रम्यौ, बन-उपबन हर ठौर।
मिली मिलिंदहिं मालती, सरिस पै न अलि और॥

लोभवश भौंरा रातदिन वन-उपवन सर्वत्र भटकता फिरा पर मालती के समान और कोई नहीं मिली। यहाँ प्रस्तुत मिलिंद (भौंरे) और मालती के लिङ्ग-(पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग) साम्य से उनमें अप्रस्तुत नायक-नायिका की प्रतीति होती है।

जब तुहिन-भार से चलता था
धीरे - धीरे मारुत - कुमार,
तब कुसुम-कुमारी देख - देख
उसपर हो जाती थी निसार। हल्दीघाटी

यहाँ प्रस्तुत मारुत पर कुसुम-कुमारी के निसार होने के वर्णन से मस्ती से चलनेवाले किसी युवक पर किसी युवती का निसार होना द्योतित होता है। यहाँ मारुत के पुँल्लिङ्ग और कुसुम-कुमारी के स्त्रीलिङ्ग होने से इस प्रकार की प्रतीति होती है, अतः यहाँ लिङ्गकृत समासोक्ति है।

विशेषण, कार्य और लिङ्ग इन तीनों का साङ्कर्य भी हो सकता है, जैसे—

ओस-बिन्दु की मालाओं का भूषणभार सँभाले,
उतर रही मुग्धा ऊषा रवि के कर में कर डाले। नूर०

यहाँ विशेषण—मुग्धा, कार्य—भूषणभार संभालना और कर में कर डालकर चलना तथा लिङ्ग—ऊषा में स्त्रीलिङ्ग और रवि में पुंल्लिङ्ग, इन तीनों के आधार पर प्रस्तुत ऊषा-रवि के वर्णन में अप्रस्तुत फैशनेबिल, अप-टू-डेट नायक-नायिका की प्रतीति हो रही है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

यदि अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति हो तो अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है। †

अप्रस्तुतप्रशंसा का अर्थ है अप्रस्तुत का वर्णन। यहाँ प्रशंसा शब्द प्रशंसा का वाचक नहीं, वह सामान्य वर्णन या कथनमात्र का बोध कराता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में वर्णन तो किया जाता है अप्रस्तुत का पर वह कुछ इस प्रकार निबद्ध रहता है कि उससे प्रस्तुत की भी प्रतीति होती है।

यह अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति पाँच प्रकार से संभव है :—

(१) अप्रस्तुत कारण के वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति— (कारणनिबंधना)

(२) अप्रस्तुत कार्य के वर्णन से प्रस्तुत कारण की प्रतीति— (कार्यनिबंधना)।

(३) अप्रस्तुत विशेष के वर्णन से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति— (विशेषनिबंधना)।

---

† अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतिः अप्रस्तुतप्रशंसा।

(४) अप्रस्तुत सामान्य के वर्णन से प्रस्तुत विशेष की प्रतीति—(सामान्यनिबंधना)।

(५) अप्रस्तुत तुल्यवस्तु के वर्णन से प्रस्तुत तुल्यवस्तु की प्रतीति—(सारूप्यनिबंधना)।

१ कारणनिबंधना

अप्रस्तुत कारण के वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति।

कोउ कह जब विधि रति-मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हर लीन्हा।

यहाँ प्रस्तुत कार्य है रतिमुख के सौंदर्य का वर्णन करना; उसे न कर उस मुख के सौंदर्य के कारण—चन्द्रमा के सार भाग के ग्रहण—का वर्णन किया गया है। इस प्रकार अप्रस्तुत कारण के वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति होने से अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार है।

कोमलता कंज तें, सुगन्ध लै गुलाबन तें,
चंद तें प्रकास लीन्हों उदित उजेरो है।
रूप रति-आनन तें, चातुरी सुजानन तें,
नीर नीरवानन तें कौतुक निवेरो है।
'ठाकुर' कहत, ये मसाला विधि-कारीगर-
रचना निहारी क्यों न होत चित चेरो है।
कंचन को रंग लै, सवाद लै सुधा को,
वसुधा को सुख लूटि कै बनायो मुख तेरो है।

यहाँ प्रस्तुत कार्य है राधा के मुख का सौंदर्य-वर्णन; उसके बदले उस सौंदर्य के कारणों—कोमलता कंजते आदि—का वर्णन किया गया है।

२ कार्यनिबंधना

अप्रस्तुत कार्य के वर्णन से प्रस्तुत कारण की प्रतीति।

गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असोस अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर के बार॥

यहाँ प्रस्तुत है गोपियों के विरह का वर्णन पर उसके बदले उस विरह का कार्य—आँसुओं से नदी का बह जाना—वर्णित है। विरह (कारण) से आँसू (कार्य) की उत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। तो इस प्रकार प्रस्तुत (वर्णनीय) विरहरूप कारण की प्रतीति अप्रस्तुत आँसूरूप कार्य के वर्णन से करायी गयी है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा है।

मैं लै दयो, लयो सु कर, छुवत छिनकिगो नीर।
लाल ! तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यौ अबीर॥

यहाँ प्रस्तुत है नायिका का नायक पर अनुरागातिशय सूचित करना। उसके विषय में कुछ न कहकर (नायिका की) सखी उस अनुराग के कार्य का ही वर्णन कर देती है—'हे लाल ! तुम्हारे विरहजनित तापाधिक्य से अरगजा (सुगंध द्रव्यों से निर्मित लेपविशेष) का रस उस (नायिका) के छूते ही सूख गया और वह लेप के बदले अबीर होकर उसके शरीर में लगा। तुम पर उसका इतना अनुराग है कि वह तुम्हारे विरह में ताप से जल रही है।' इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत अनुराग-वर्णनरूप कारण की प्रतीति कराने के लिये उस (अनुराग) के अप्रस्तुत कार्य—अरगजा का रस सूखकर अबीर हो जाना—का वर्णन किया गया है।

३ विशेषनिबंधना

अप्रस्तुत विशेष के वर्णन से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति।

फरजी साह न ह्वै सकै, गति टेढ़ी तासीर।
'रहिमन' सीधी चाल तें, प्यादा होत वजीर॥

टेढ़े चलने का परिणाम-यह है कि फरजी कभी बादशाह नहीं होता और सीधे चलने से प्यादा भी वजीर हो जाता है। इस विशेष अप्रस्तुत से यह सामान्य प्रस्तुत प्रतीत होता है कि 'कुटिल व्यवहारवाले उन्नति नहीं कर सकते और सरल व्यवहारवाले कर सकते हैं।'

धरि कुरंग को अंक, मृग-लांछन ससि-नाम भो।
मृग-गन हनत निसंक, नाम मृगाधिप हरि लह्यौ॥

चन्द्रमा ने मृग को अपनी गोद में बिठाकर मृगलांछन नाम पाया अर्थात् वह मृग उसके लिये कलंक बन गया पर सिंह, जो निर्भय होकर मृगों को मारता है, मृगाधिप (मृगों का राजा) कहलाता है। इस विशेष अर्थ से यह सामान्य तथ्य द्योतित होता है कि 'नम्रता सदोष और क्रूरता गौरव एवं महत्ता बढ़ानेवाली है—संसार में कुछ करनेवाले को नम्रता को छोड़ क्रूरता का अवलंबन करना चाहिये।' यह शिशुपाल-वध महाकाव्य में बलदेवजी की श्रीकृष्ण के प्रति उक्ति है। शिशुपाल के साथ क्षमा या शांति का व्यवहार उचित नहीं, उसे पराजित कर उन्मूलित करना ही श्रेयस्कर है।

क्षमा शोभती उस भुजंग को
जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दन्तहीन,
विषरहित, विनीत, सरल हो। कुरुक्षेत्र

इस अप्रस्तुत सर्प के विशेष-वर्णन से प्रस्तुत में यह सामान्य अर्थ प्रतीत होता है कि शक्ति-संपन्न पुरुष को ही क्षमा शोभा देती है, शक्तिहीन को नहीं।

४ सामान्यनिबंधना

अप्रस्तुत सामान्य के वर्णन से प्रस्तुत विशेष की प्रतीति।

अपमान को कर सहन रहते मौन जो,
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं,
चरण का आघात सहती है न जो
शीश पर चढ़ बैठती है तुरत ही। का० क०

यह भी शिशुपालवध के पूर्वोक्त प्रसंग में बलदेव का कृष्ण के प्रति कथन है जिसमें अपमान-सहिष्णु मनुष्य-सामान्य के वर्णन से प्रस्तुत में यह कहना है कि 'अपमान को चुप होकर सहनेवाले हमलोगों की अपेक्षा ठोकर खाकर सिर पर चढ़नेवाली धूल भी अच्छी है', जो विशेष अर्थ है। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की प्रतीति होती है।

पाकर विषम विषाद, पछतायेंगे बाद वे।
जो देते हैं लाद, खर पर गज का भार नृप ! ❀

'हे राजन्! वे जो गदहे पर हाथी का बोझ लाद देते हैं, अवसर पड़ने पर अवश्य पछतायेंगे', यह सामान्य कथन है जो अप्रस्तुत है। इससे प्रस्तुत में किसी अयोग्य मंत्री पर राजकार्य रख छोड़नेवाले राजा को सचेत करना विशेष अर्थ लक्षित होता है।

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं,
रोग लेकिन आ गया जब पास हो,
तिक्त ओषधि के सिवा उपचार क्या ?
शमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से। कुरुक्षेत्र

भीष्म युधिष्ठिर से कह रहे हैं कि रुग्णता का उपचार तिक्त

औषध ही है। इस अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत में यह विशेष अर्थ प्रतीत होता है कि कौरवों की दुर्नीति का प्रतीकार युद्ध ही था और कुछ नहीं।

५ सारूप्यनिबंधना

अप्रस्तुत समान वस्तु के वर्णन से प्रस्तुत तत्समान वस्तु की प्रतीति।

अप्रस्तुत-प्रशंसा का यही भेद 'अन्योक्ति' भी कहलाता है।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली! कली ही सों बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥

इस पद्य के द्वारा बिहारी का अप्रस्तुत भ्रमर के वर्णन से प्रस्तुत में राजा जयसिंह को नई रानी से अलग कर राज-काज की ओर ध्यान दिलाना प्रसिद्ध ही है।

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार॥

अप्रस्तुत गुलाब की अतीत श्रीसम्पन्नता का स्मरण दिलाते हुए उसकी वर्त्तमान पत्र-पुष्पहीन अवस्था के वर्णन से प्रस्तुत में किसी पहले के सम्पन्न व्यक्ति को आधुनिक दुरवस्था सूचित की गयी है।

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन-पयोधि मराली॥
नव रसाल-बन बिहरन-सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥

यहाँ अप्रस्तुत मराली (हंसिनी) और कोकिला के वर्णन से प्रस्तुत सीताजी की प्रतीति करायी गयी है।

ओ तरुणी तेरा आश्रय-तरु गिरकर आज धरा पर सो,
तुझे अकेले छोड़ गया है, प्राण न दे लतिके! रो-रो! नूर०

यहाँ अप्रस्तुत आश्रयहीन लता के आश्वासन के रूप में प्रस्तुत पतिविहीन नूरजहाँ को आश्वासन दिया गया है।

परिकर

यदि साभिप्राय विशेषण का प्रयोग हो तो परिकर अलङ्कार होता है।†

परिकर का अर्थ है उपकरण। जिस प्रकार उपकरणों से किसी वस्तु का उत्कर्ष बढ़ जाता है, उसमें साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक रमणीयता आ जाती है, उसी प्रकार साभिप्राय विशेषण से उक्ति में एक विचित्र चमत्कार का आधान हो जाता है। साभिप्राय का मतलब है किसी स्वारस्य या सार्थकता के उद्देश्य से किसी विशेषण का प्रयोग किया जाना अर्थात् उस प्रसंग में वही विशेषण उपयुक्त हो—स्वारस्यपूर्ण हो।

जानो न नेक व्यथा पर की, बलिहारी तऊ पै सुजान कहावत।

कृष्ण के प्रति उपालंभ है कि दूसरों का कष्ट जरा भी नहीं समझने पर कहलाते हो 'सुजान' (सुन्दर समझवाला)! कहाँ तो यह विशेषण और कहाँ तुम्हारी करनी? तो यहाँ 'सुजान' विशेषण का साभिप्राय प्रयोग हुआ है—नाम के साथ काम का अंतर दिखाकर उपालंभ का रंग गाढ़ा करने के लिये।

चक्रपाणि हरि को निरखि, असुर जात भजि दूरि।
रस[1] बरसत घनश्याम[2] तुम, ताप हरत सुद पूरि॥

हरि का चक्रपाणि विशेषण साभिप्राय है। जिसके हाथ में

---

† उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः। सा० द०

१ जल और आनंद। २ कृष्ण और मेघ।

चक्र हो उसे देखकर असुरों का दूर भागना उचित ही है।

निर्दोषा, कुलवधू, एकवस्त्रा को खींच महल से,
दासी बना सभा में लाये हुए द्यूत के छल से। कुरुक्षेत्र

यहाँ प्रथम चरण में निर्दोषा, कुलवधू, एकवस्त्रा ये तीनों विशेषण साभिप्राय हैं। तात्पर्य यह कि द्रौपदी को सभा-भवन में खींच लाने के दारुण अनौचित्य का समर्थन इनमें से एक-एक विशेषण पर्याप्त रूप से कर रहा है।

परिकराङ्कुर

यदि विशेष्य साभिप्राय हो तो परिकरांकुर अलङ्कार होता है।

परिकर में विशेषण की साभिप्रायता रहती है और परिकरांकुर में विशेष्य की।

बाल बेलि सूखी सुखद, इहि रूखे रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिये, सुरस सींचि घनस्याम॥

यहाँ कृष्ण के लिये 'घनस्याम' संबोधन साभिप्राय है। रस से सींचना घनश्याम का ही कार्य है।

हृषीकेश सुनि नाउँ जाउँ बलि अति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इंद्रिय संभव दुख हरे बनिहि प्रभु तोरे।

यहाँ भगवान के लिए 'हृषीकेस' विशेष्य साभिप्राय है। हृषीकेश का अर्थ है हृषीक (इन्द्रियों) का ईश (स्वामी) अर्थात जिसकी इन्द्रियाँ वश में हों। जो स्वयं इन्द्रियों को अपने वश में रखे हुआ हो, वही दूसरे को जितेन्द्रिय बना सकता है—इन्द्रियभोग-जन्य दुःखों का निवारण कर सकता है।

बामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत बिदेस॥

वर्षा ऋतु में विदेश जाने को प्रस्तुत पति से नायिका कहती है कि प्रियतम! जा तो रहे हो विदेश और मुझे सम्बोधन कर रहे हो प्यारी! (यदि मैं सचमुच तुम्हारी प्यारी होती तो क्या इस वर्षा में तुम मुझे अकेली छोड़कर जाते? इसलिये मैं तुम्हारी 'प्यारी' तो हो ही नहीं सकती), ऐसी दशा में "प्यारी" सम्बोधन असंगत है। मुझे दूसरे सम्बोधनों से पुकारना अधिक उचित होगा—बामा (टेढ़ी बात बोलनेवाली), भामा (मानिनी) या कामिनी (कामवती) आदि शब्द ही तुम्हारे मुख से सुंदर लगेंगे। 'प्यारी' की सार्थकता मत नष्ट करो!

अनुज रहना उचित तुमको यहीं है।
यहाँ जो है त्रिदिव में भी नहीं है॥ साकेत

'अनुज' (छोटा) होने से ही लक्ष्मण के लिये राम का आदेश मानना आवश्यक है। अतः अनुज साभिप्राय संबोधन है।

अर्थश्लेष

जहाँ स्वभावतः एकार्थवाची शब्दों से अनेक अर्थ कहे जायँ वहाँ अर्थश्लेष अलंकार होता है।†

शब्दश्लेष से इसका अंतर स्पष्ट है। शब्दश्लेष में अनेकार्थक शब्दों से अनेक अर्थ कहे जाते हैं और अर्थश्लेष में एकार्थक शब्दों से अनेक अर्थ। अर्थश्लेष में श्लेष शब्द के आश्रित न

---

† शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्। सा० द०

होकर अथ के आश्रित रहता है इसीलिये इसे अर्थश्लेष कहते हैं। इसमें शब्द-परिवर्त्तन कर देने पर भी अर्थ परिवर्त्तित नहीं होता। शब्दश्लेष में शब्द-परिवर्त्तन से अर्थ परिवर्त्तित हो जाता है।

रंचहिं सों ऊँचो चढ़ै, रंचहिं सों नमि जाय।
तुलाकोटि खल दुहुँन की, यहै रीति दिखराय॥

यहाँ तुलाकोटि और खल दोनों वर्णनीय हैं और पूर्वार्द्ध उन दोनों का विशेषण होकर आया है। यदि रंच आदि शब्दों के बदले में 'अल्प' या 'थोड़े' आदि शब्दों का प्रयोग करें तो भी अर्थ वही रहेगा—उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होगा।

सखि! मुख तेरा और कमल, दोनों हैं एक समान।
कोमल, सुखद, सुगंधि, मनोहर, विकसित, अति छविमान॥*

यहाँ उत्तरार्द्ध के कोमल आदि एकार्थक विशेषणों द्वारा मुख और कमल दोनों का वर्णन है। यदि इनके स्थान पर इनके पर्याय मृदु आदि शब्दों को भी रख दें तो भी अथ अपरिवर्त्तित ही रहेगा।

पर्यायोक्ति

विवक्षित वस्तु को (सीधे न कहकर) प्रकारान्तर से कहना पर्यायोक्ति अलङ्कार है। †

पर्यायोक्ति का अर्थ है पर्याय (प्रकार) से उक्ति (कथन)। कुछ कहना अभीष्ट हो पर उसे सीधे न कहकर भंग्यन्तर—दूसरे ढंग से कहा जाय। तात्पर्य यह कि इसमें जो कुछ कहना होता है उसे स्पष्टतः नहीं कहकर घुमा-फिराकर कहा जाता

† पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते। सा० द०

है। जैसे कोई किसी से पूछे कि 'आप के जन्म से किस जाति की गौरववृद्धि हुई है' तो इसका अर्थ है कि 'आप किस जाति के हैं।' वैसे ही 'आपने कैसे कृपा की' का अर्थ है 'आप किस काम के लिये आये।' तो यहाँ 'किस जाति के हैं' या 'किस काम के लिये आये' इन्हीं बातों को सीधे न कहकर घुमाफिरा कर—दूसरे प्रकार से कहा गया है।

टुनहाई सब टोल में, रही जु सौत कहाय।
सु तैं ऐंचि प्यो आपु त्यों, करो अदोखिल आय॥

'इस टोले-मुहल्ले में तेरी सौत टोना (जादू) करने वाली समझी जाती थी (क्योंकि वह सबको अपने पर मोहित कर लेती थी) पर तूने प्रियतम को अपनी ओर आकृष्ट कर उसको कलंकमुक्त कर दिया।' कवि का तात्पर्य यह है कि तेरी सौत के सौंदर्य से सभी आकृष्ट हो उसके वश में रहते थे पर तूने अपने प्रियतम को अपने वश में रखकर उसपर विजय प्राप्त कर ली अर्थात् उसकी अपेक्षा भी तू अधिक सुन्दरी और गुणशालिनी है। यहाँ कहना यही है कि तू अपनी सौत की अपेक्षा अधिक सुन्दरी और प्रियतम को मुग्ध करनेवाली है, पर इसको सीधे न कहकर इस प्रकार घुमा-फिराकर कहा गया कि तेरी सौत टोना करनेवाली समझी जाती थी जिसके कलंक को तूने दूर कर दिया।

इस प्रकार यहाँ विवक्षित वस्तु को प्रकारान्तर से कहने के कारण पर्यायोक्ति है।

चल्यौ चहत परदेस अब, प्रिय प्रानन के नाथ।
कछु ठहरौ लै जाइयौ, अँसुवा असुवन[1] साथ॥

प्रवत्स्यत्पतिका नायिका पति से कह रही है कि प्राणनाथ!

---

१ प्राण।

आप परदेश जाना चाहते हैं तो जरा ठहर जाइये। मेरे प्राणों को भी अपने साथ लेते जाइयेगा। इसका तात्पर्य है कि आपके जाने पर मैं जीवित नहीं रहूँगी। तो यह सीधी-सी बात कि मैं जीवित नहीं रहूँगी, इस प्रकारभेद से कही गयी है।

तरु पर लौट रहे हैं नभचर,
लौट रहीं नौकाएँ तट पर,
पश्चिम की गोदी में रवि की श्रांत किरण ने आश्रय पाया। बच्चन

यहाँ 'सूर्यास्त हो गया' इसी को उपर्युक्त प्रकार से कहा गया है।

व्याजस्तुति

यदि निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा व्यक्त हो तो व्याजस्तुति अलङ्कार होता है।†

व्याजस्तुति का अर्थ है व्याज बहाने से स्तुति—प्रशंसा। निन्दा से स्तुति व्यक्त हो तो व्याजस्तुति की व्युत्पत्ति होगी व्याज अर्थात् (निन्दा के) बहाने से स्तुति ; स्तुति से निन्दा व्यक्त होने पर व्याजरूप—छलरूप अर्थात् अवास्तविक—असत्य स्तुति। किसी की झूठी प्रशंसा से उसकी निन्दा ही टपकती है। यहाँ स्तुति शब्द का सामान्य प्रशंसारूप अर्थ लिया जाता है।

निन्दा से स्तुति की प्रतीति :—

कहा कहौं कहत न बनत, सुरसरि तेरी रीति।
ताके तू मूँड़े चढ़ै, जो आवै करि प्रीति॥

---

† उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः। सा० द०

इस दोहे में गंगा की निन्दा-सी जान पड़ती है—'जो प्रेमसहित तेरे पास आता है तू उसके सिर पर चढ़ जाती है !' पर इसका आशय यह है कि जो प्रेमयुक्त हृदय से तेरी शरण में आता है उसे तू महादेव बना देती है और उसकी जटा में निवास करने लगती है । मानव से देवाधिदेव बना देना कम प्रशंसा की बात नहीं । अतः यहाँ वाच्य निन्दा से स्तुति व्यक्त होती है ।

भसम जटा बिष अहि सहित, गंग ! कियो तैं मोहि ।
भोगी तें जोगी कियो, कहा कहौं अब तोहि ॥

यहाँ भी भस्म-जटा-सर्प-धारी बनाकर भोगी से योगी बना देने में निन्दा से स्तुति (मनुष्य से देवत्व की प्राप्ति) प्रतीत होती है ।

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट, बनमाल ॥

सखी नायिका को झिड़की दे रही है—तूने अपनी आँखों को इतना लड़ाकू क्यों बना रखा है ? ये निगोड़ी आँखें जिससे उलझ जाती हैं उसे बेहाल कर डालती हैं । जरा जाकर देख तो लाल (कृष्ण) की हालत ! कहीं मुरली, कहीं पीताम्बर, कहीं मुकुट और कहीं वनमाला ! बेचारे को किसी बात की सुधि ही नहीं है । कहीं इस तरह किसी को परेशान किया जाता है ?

यहाँ नायिका की आँखों की इस निन्दा में उनकी भूरिशः प्रशंसा छिपी है । ये आँखें ऐसी हैं जो एकबार लग गयीं तो बस गजब हो गया !

लाल तिहारे रूप की, कहौ रीति यह कौन?
जासों लागै पलक दृग, लागत पलक पलौ न ॥

यह रूप भी क्या है जिसे पलभर देखने पर ही कभी आँखें नहीं लगतीं! जो रूप किसी की नींद हराम कर दे वह भी कोई रूप है! पर ऐसा रूप मिलता है कितने लोगों को जिसे एकबार देखा नहीं कि सब की सुधबुध जाती रहे; आराम, चैन, नींद सब कुछ भूलकर तन्मयता आ जाय! यहाँ भी रूप की बाहरी निन्दा में उसकी उत्कृष्ट प्रशंसा भरी है।

राजभोग से तृप्त न होकर मानों वे इस बार
हाथ पसार रहे हैं जाकर जिसके तिसके द्वार
छोड़कर निज कुल और समाज। यशोधरा

यहाँ यशोधरा के इन वचनों से बुद्ध की निंदा टपकती है पर उससे उनके वैराग्य, सुख के प्रति उदासीनता और सबों के लिये स्नेह की अभिव्यक्ति होने से व्याजस्तुति है।

स्तुति से निन्दा की प्रतीति :—

ऊधो तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रँगी स्याम रँग तिन्ह न चढ़ै रँग आन।

यहाँ उद्धव की प्रशंसा में निन्दा छिपी है।

आत्मज्ञान हीन वह मुग्धा वही ज्ञान तुम लाये।
धन्यवाद है बड़ी कृपा की कष्ट उठाकर आये। गुप्त

यहाँ भी राधा को ज्ञान का उपदेश देनेवाले शुष्क दार्शनिक उद्धव की इस बाहरी प्रशंसा से उनकी यह निन्दा व्यक्त होती है कि तुम इतने अविवेकी हो कि पात्रापात्र का विचार किये बिना एक-सा उपदेश सबों को देते चलते हो।

सूर के भ्रमर-गीत अथवा पद्माकर की गंगालहरी में व्याजस्तुति के बड़े अच्छे-अच्छे और प्रचुर मात्रा में उदाहरण मौजूद हैं।

कुछ लोग दूसरे की स्तुति से दूसरे की स्तुति और दूसरे की निंदा से दूसरे की निंदा में भी व्याजस्तुति मानते हैं पर उसमें वैसा चमत्कार नहीं रहता इसीलिये उसे यहाँ छोड़ दिया गया है।

आक्षेप

यदि किसी विवक्षित वस्तु में विशेषता-संपादन के लिये उसका निषेध-सा किया जाय तो आक्षेप अलङ्कार होता है। †

आक्षेप का अर्थ है डालना, छोड़ देना १; तात्पर्य यह कि किसी विवक्षित वस्तु को बिना पूरा किये, बीच में ही छोड़ देना। इस प्रकार की आकस्मिक विरति से अर्थ में कोई असंगति या असम्बद्धता नहीं आती बल्कि वक्तव्य में उससे और भी प्रभाव और विशेषता आ जाती है। अपने प्रतिदिन के व्यवहार में हम इस पद्धति से बड़ी सहायता लेते हैं। जैसे कोई कहे "आपसे कहना तो बहुत कुछ था पर उससे लाभ क्या होगा" अथवा "उनके सम्बन्ध में जितनी बातें हैं उन्हें जानकर क्या कीजियेगा?" ऐसे वाक्यों में वक्ता का अभिप्राय अपनी बात को कहने का तो रहता ही है, पर इस निषेधात्मक

---

† वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये निषेधाभास आक्षेपः। सा० द०

१ आक्षेपः वक्तुमिष्टस्य आकर्षणम् असमाप्तावेव विरतीकरणम्।

प्रणाली से दूसरे की दिलचस्पी बढ़ने के साथ अपने वक्तव्य में प्रभावोत्पादकता आ जाती है। इसीलिये ऐसे स्थलों में जो निषेध प्रयुक्त होता है उसे निषेध न कह निषेधाभास कहते हैं—वहाँ निषेध की प्रधानता या वास्तविकता नहीं रहती—उसकी झलकमात्र रहती है। यह दो प्रकार से होता है : कहीं तो पहले वक्तव्य को कहकर पीछे उसका निषेध किया जाता है, इसे उक्तवस्तुगत कहते हैं और कहीं कुछ कहने के पहले ही उसका निषेध कर दिया जाता है, उसे वक्ष्यमाणवस्तुगत कहते हैं।

उक्तवस्तुगत :—

भये बटाऊ नेह तजि, बादि बकत बेकाज।
अब अलि ! देत उराहनो, उर उपजति अति लाज॥

अरी सखी ! ये (नायक की ओर बताकर) तो नेह ठुकरा कर राही हो रहे हैं—(विदेश जा रहे हैं) अब व्यर्थ की इन बातों को कहने से क्या लाभ ? अब तो उलाहना देने में भी मन को लाज होती है। यहाँ नायक को उलाहना देना अभीष्ट है पर 'बादि बकति बेकाज' कह कर अपने कथन को अधिक जोरदार बनाने के लिये उसका निषेध किया गया है। इस भाँति आक्षेप है।

सुनो हे राम ! कंटक आप हूँ मैं।
कहूँ क्या और बस चुपचाप हूँ मैं॥ साकेत

यहाँ कैकेयी को बोलना अभीष्ट रहते हुए भी द्वितीय चरण से उसका निषेध-सा किया गया है, अतः आक्षेप अलङ्कार है।

तव वियोग दुख सों भई, बाल बिकल बेहाल।
कस 'रसाल' कहिये अधिक, भयो जु वाको हाल॥

यहाँ नायिका की वियोगजनित व्यथा को नायक से कहना अभीष्ट रहते हुए भी—उसके सम्बन्ध में सब कुछ कहकर भी—दूती उत्तरार्द्ध द्वारा अपने कथन का निषेध-सा करती है। इस प्रकार यह निषेध नहीं, निषेधाभास है।

वक्ष्यमाणवस्तुगत :—

> रे खल ! तेरे चरित ये, कहिहौं सबहिं सुनाय।
> अथवा कहिबो हतकथा, उचित न मोहि जनाय॥ का० क०

यहाँ खल का चरित्र वक्ष्यमाण है, अभी कहा नहीं गया है, पर पहले ही उसका निषेध है। इससे वक्ता का आशय यह है कि दुष्टों का चरित्र कहना भी पाप है।

यदि अनभीष्टवस्तु की विधि (स्वीकृति) में उसका निषेध छिपा हो तो वहाँ भी आक्षेप अलङ्कार होता है।

> जाहु जाहु परदेस पिय ! मोहि न कछु दुख भीर।
> लहहुँ ईस ते बिनय करि, मैं हूँ तहाँ सरीर॥

यहाँ प्रवत्स्यत्पतिका नायिका बाहर जाने को उद्यत पति को जाने की ऊपर से अनुमति देती है पर 'मेरा भी जन्म वहीं हो जहाँ आप जा रहे हैं' यह कहकर उसके वियोग में अपने निश्चित मरण की सूचना से अनभीष्ट गमन का विधिमुख से निषेध करती है।

> पानपीक की लीक दृग, डगमगात सब गात।
> रमहु रमन ! मन रमत जहँ, कत सकुचत सतरात ?

यह दूसरी नायिका से रमण कर आनेवाले पति के प्रति किसी खंडिता नायिका की उक्ति है। वह कह तो रही है कि

जहाँ जी रमता है वहाँ रमिये, संकोच की क्या आवश्यकता, पर उसके इस कथन में उसकी अस्वीकृति छिपी हुई है। भला कौन नारी इस प्रकार की स्वतंत्रता अपने पति को देगी ?

मोहूँ सों बातनि लगे, लगी जीह जिहि नायँ।
सोई लै उर लाइये, लाल ! लागियत पायँ॥

लालजी ! मेरे साथ बातें करने में भी जिसका नाम आपकी जीभ पर अनायास आ जाता है उसी को छाती से लगाइये। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ। इस उदारता की ओट में छिपा तीखा व्यंग्य जिस निषेध को घोषित कर रहा है उसे भी क्या दुहराने की आवश्यकता है ?

आली ! उनसे नहीं मुझे है कुछ भी कहना।
जो चाहें वे करें हर्ष से ही है रहना।।&

यहाँ वक्ष्यमाण बात का पहले ही विधिमुख से निषेध है।

विरोधाभास

दो वस्तुओं में वस्तुतः विरोध न रहने पर भी विरोध का वर्णन करना विरोधाभास अलङ्कार है।†

विरोधाभास का अर्थ है विरोध का आभास (झलक)। नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें वास्तविक विरोध न होकर उसकी केवल छाया भर रहती है—विरोध के अभाव में भी विरोध-सा झलकता है। वास्तव विरोध में चमत्कार कहाँ से आयगा ? विरोध से प्रेरित गाली-गलौज या सिरफोड़ौवल (मारपीट) में

† आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते। कुवलयानन्द

अश्लीलता अथवा बीभत्सता आ जायगी, चमत्कारिता नहीं रहेगी। विरोधाभास की उपमा प्रणयकलह से दे सकते हैं जो कलह न हो कलहाभास होता है, जिस कलह से भी प्रेम का पोषण ही होता है। इसलिये वह कलह होता हुआ भी लौकिक साधारण कलह से भिन्न है। वैसे ही विरोधाभास का विरोध सांसारिक विरोध-सा उद्वेजक या विरक्तिजनक नहीं होता अपितु और भी मनोरम और रमणीय होता है। यह विरोध प्राय: शब्दाश्रित ही होता है अर्थाश्रित नहीं। अर्थ की ठीक अवगति होने पर विरोध दूर होजाता है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के परस्पर विरोध से विरोधाभास के दस भेद होते हैं पर सब के मूल में रहता है विरोध ही, अत: उन भेदों को अलग-अलग दिखाना अनावश्यक है। तात्पर्य केवल विरोध से है, वह कहाँ है इससे नहीं।

विरोधाभास को ही विरोध नाम से भी कहा गया है। कुछ आलंकारिकों ने केवल मौलिकता प्रदर्शन के लिये दोनों को दो अलंकार माना है पर वह दुराग्रहमात्र है। दोनों का स्पष्ट विषयविभाग वे भी नहीं कर सके हैं।

तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

जो तंत्रीनाद आदि में अनबूड़े (नहीं डूबे) वे ही बूड़े (डूब गये) और जो बूड़े (डूबे) वे तिरे (पार कर गये) ऐसा कहना विरोधजनक है। 'नहीं डूबनेवाले डूब गये और डूबनेवाले पार हो गये' यह तो मानो पहेली है। तात्पर्य यह है कि जो इनमें लीन हुए उन्हीं का जन्म सार्थक है और जो इनसे दूर रहे उनका जन्म निरर्थक। सच्ची सहृदयता

इनमें लीन ही होने में है। यहाँ दो क्रियाओं—अनबूड़े-बूड़े और तिरे-बूड़े—का परस्पर विरोध है।

वंदौं गुरु-पद-कंज, रामायन जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल, मंजु, दोषरहित दूषण-सहित॥ तुलसी।

जो सखर (कठोर) हो वही सुकोमल कैसे और जो दोषरहित वह दूषण (दोष) सहित कैसे ? अर्थ ठीक समझ जाने पर यह विरोध दूर हो जाता है—सखर (खर नाम के राक्षस के वर्णन से युक्त) फिर भी कोमल और दूषण (दूषण नाम का राक्षस, खर-दूषण दोनों भाई थे) से सहित पर दोष-रहित—निर्दोष।

इस सोरठे में पोद्दारजी ने विरोध की ध्वनि मानी है, विरोधाभास अलंकार नहीं, पर यह भ्रम है। ध्वनि वहीं होती है जहाँ कुछ व्यंग्य रहता है, यहाँ तो विरोध वाच्य है फिर उसे ध्वनि कैसे कह सकते हैं। आप कहते हैं—"जहाँ 'अपि' 'तऊ' आदि विरोधवाचक शब्दों के प्रयोग बिना विरोध का आभास होता है, वहाँ विरोध की ध्वनि होती है।" यह कथन अलङ्कार शास्त्र से अनभिज्ञता का परिचायक है। यदि सचमुच आपका कथन ठीक है तो फिर

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै स्यामरँग, त्यों त्यों उज्जवल होय॥

इस दोहे में आप स्वयं विरोधाभास अलङ्कार क्योंकर मानते हैं ? इसमें 'अपि' 'तऊ' आदि शब्दों का प्रयोग कहाँ है ? अथवा आपके कथनानुसार बिहारी के उपर्युक्त दोहे—'तंत्रीनाद कबित्तरस······' में भी विरोधाभास अलङ्कार नहीं होना चाहिये क्योंकि वहाँ भी 'अपि', 'तऊ' आदि शब्द प्रयुक्त

नहीं हैं। इस प्रकार की ऊटपटाँग कल्पना से तो विरोधाभास के क्षेत्र का ही अपहरण हो जायगा।

या मतिराम के सवैये के इस चतुर्थ चरण

'वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई'

में ही आपने स्वयं विरोधाभास कैसे माना ? यहाँ भी तो कोई विरोधवाचक पद नहीं है।

बात यह है कि कहीं विरोधवाचक पद रह भी सकता है, कहीं नहीं भी। उसके न रहने से सर्वत्र विरोध की ध्वनि मान लेना तो बहुत बड़े दुस्साहस का कार्य है। यह तो वैसा ही कहने के समान है कि जहाँ उपमावाचक शब्द नहीं हो वहाँ उपमा की ध्वनि होती है !

मूक गिरिवर के मुखरित ज्ञान।—पंत

मूक गिरिवर के ज्ञान को मुखरित कहने में विरोधाभास है।

खो दिया सुयोग स्वयं, चूकी हाय अज्ञ, तू;
पाकर भी पा न सकी निज अवलम्ब तू।

अथवा

पर अथाह पानी रखता है यह सूखा-सा गात्र। यशोधरा

यहाँ 'पाकर भी नहीं पाना' और 'सूखे से गात्र का अथाह पानी रखना' विरोध का सूचक है।

विभावना

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होने का वर्णन विभावना अलङ्कार है।†

---

† विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। सा० द०

विभावना का अर्थ है विशिष्ट (वि) कल्पना (भावना)। कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का कथन विशिष्ट कल्पना से ही संभव है। सामान्य और प्रसिद्ध कल्पना तो यही है कि कारण के रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता है पर कारण के न रहने पर भी कार्य का उत्पन्न होना विशिष्ट कल्पना द्वारा ही प्रतिपादित हो सकता है, इसीलिये इसे विभावना कहते हैं।

विभावना में कारण के न रहने पर भी कार्य के होने का कहीं तो निमित्त (कारण) उक्त रहता है और कहीं अनुक्त। इस प्रकार इसके दो भेद कर सकते हैं :—

(१) उक्तनिमित्ता

(२) अनुक्तनिमित्ता

कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन सर्वथा अस्वाभाविक और असंभव है; कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न हो ही नहीं सकता पर जहाँ इस प्रकार का वर्णन रहता है वहाँ भी प्रसिद्ध कारण को छोड़कर कारणान्तर अवश्य रहता है। इस अलङ्कार का तत्त्व यही है कि प्रसिद्ध कारण का अभाव वर्णन कर अप्रसिद्ध कारणान्तर के योग से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो। और इस प्रकार के वर्णन में चमत्कार की स्थिति अनिवार्यतया होनी चाहिये तभी उसे अलङ्कार कहेंगे, अन्यथा नहीं। 'पढ़े बिना भी वह पास कर गया' ऐसे वाक्यों में चमत्काराभाव के कारण विभावना अलङ्कार नहीं मान सकते।

प्रथम विभावना

यदि कारण के अभाव में कार्य का होना कहा जाय।

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिन बानी बकता बड़ जोगी॥

यहाँ पैर (कारण) के अभाव में चलना (कार्य) कहा गया है। वैसे ही कान के बिना सुनना, हाथ के बिना कार्य करना आदि में भी कारण के बिना कार्य का कथन है।

सून्य भित्ति पर चित्र, रंग नहिं, तनु-बिनु लिखा चितेरे।

यहाँ रंग और शरीर के बिना शून्य भित्ति पर चित्र लिखना कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन है।

किंतु आज आकुल है ब्रज में
जैसी वह ब्रजरानी।
दासी ने घर बैठे उसकी
मर्म - वेदना जानी।—गुप्त

घर बैठे (बिना ब्रज में गये) राधा की मर्मवेदना जानने में कारण के बिना कार्य का होना कहा गया है।

बिनु घनश्याम धाम-धाम ब्रजमंडल में,
ऊधो! नित बसत बहार बरसा की है।

बिना घनश्याम (काले बादलों) के वर्षा का होना कथित है। यहाँ भी कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति है। घनश्याम में श्लेष है जिससे कृष्ण का अर्थ लेकर और भी चारुता आ जाती है।

द्वितीय विभावना

अपर्याप्त कारण से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करना।

काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥

फूल के धनुषबाण से सारे विश्व को वश में करना अपर्याप्त कारण से कार्य की उत्पत्ति का कथन है।

तिय कत कमनैती पढ़ी, बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेधत चुकत नहिं, बंक-बिलोकनि बान॥

प्रत्यंचायुक्त धनुष और सीधे बाणों से ही लक्ष्य बेधा जाता है। यहाँ भौंहरूपी कमान बिना डोरी (प्रत्यंचा) के है और नयनरूपी बाण भी सीधे नहीं टेढ़े हैं, फिर भी चंचल चित्त का निशाना ठीक लगता है। क्या तीरंदाजी है! यहाँ भी अपर्याप्त कारणों (प्रत्यंचारहित धनुष और टेढ़े बाणों) से लक्ष्यबेध रूप कार्य की निष्पत्ति होती है।

तृतीय विभावना

प्रतिबंधक के रहते हुए भी कार्य का हो जाना।

नैना नेक न मानहीं, कितो कहौं समुझाय।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जायँ॥

रोकने पर भी नयनों का न मानना प्रतिबंधक के रहते हुए भी कार्य का हो जाना कहा जायगा।

रुद्ध भी तुम्हारी गिरा जगती में गूँजी है
देखो, यह सारी सृष्टि पुलकित हो गयी। यशोधरा

रुद्ध होना वाणी के गूँजने में प्रतिबंधक है तो भी वाणी का गूँजना कहा गया है।

चतुर्थ विभावना

अकारण से कार्य की उत्पत्ति अर्थात् जो जिसका कारण नहीं है उससे उसकी उत्पत्ति कही जाय ।

हँसत बाल के बदन में, यों छवि कछू अतूल ।
फूली चंपक - बेलि तें, झरत चमेली - फूल ॥

चंपक-बेलि से चंपक के ही फूल झड़ सकते हैं पर यहाँ चंपक-बेलि से चमेली के फूलों का झड़ना कहा गया है, जो उसका कारण नहीं है ।

चंपकता से बढ़ि रही, गहब गुलाब सुबास ।
रैन अमावस से लखौ, प्रगट्यो परत प्रकास ॥

न तो गुलाब की गंध का कारण चंपकलता है, न प्रकाश का कारण अमावास्या की रात, पर उन्हीं से इनकी उत्पत्ति कही गयी है, अतः यहाँ अकारण से कारण की उत्पत्ति है ।

पंचम विभावना

विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करना ।

सीतल चंदन चंद हू लगे जरावन गात ।

यहाँ विरुद्ध कारण (चंदन और चंद्रमा) से शरीर के जलने रूप कार्य की उत्पत्ति कही गयी है ।

दुख इस मानव आत्मा का
रे नितका मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा-खा कर
भरती प्रकाश से वह मन ।—पंत

यहाँ तम को खाकर प्रकाश से मन भरने में विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन है।

पौन सों जागत आगि सुनिही पै
पानी सों लागत आजु मैं देखी। घनानंद।

यहाँ पानी रूप विरुद्ध कारण से आग लगने रूप कार्य का वर्णन है।

षष्ठ विभावना

कार्य से कारण की उत्पत्ति बताना।

और नदी-नदन तें कोकनद होत, तेरो
कर-कोकनद नदी-नद प्रगटत है।

संसार में नदी-नद से कोकनद (कमल) की उत्पत्ति होती है पर यहाँ तुम्हारे कर-कमल से ही नदी-नद की उत्पत्ति हो रही है, (दान के समय संकल्प के जल के आधिक्य के कारण नदी-नद बह चलते हैं)। यहाँ कार्य (कमल) से कारण (नदी) का उत्पन्न होना कहा गया है।

हाय उपाय न जाय कियो ब्रज बूड़त है बिन पावस पानी।
धारन तें अँसुवान की है चख मीनन तें सरिता सरसानी॥

यहाँ मीन (कार्य) से नदी (कारण) की उत्पत्ति कही गयी है।

(नेत्ररूपी मछलियों से आँसू के प्रवाह के कारण नदी बन गयी है। नियम है कि नदियों से मछलियाँ उत्पन्न होती हैं, यहाँ मछलियों से ही नदी उत्पन्न हो रही है।)

विशेषोक्ति

कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना विशेषोक्ति अलंकार है। †

विशेषोक्ति का अर्थ है एक खास तरह की उक्ति—सामान्य उक्ति से विलक्षण विशेष प्रकार की उक्ति। विशेषोक्ति में कारण का कथन रहता है फिर भी कार्य का अभाव बतलाया जाता है। यह एक विलक्षण बात है कि कारण रहते हुए भी कार्य न हो। इसी विशेषता के आधार पर इस अलंकार का नाम विशेषोक्ति पड़ा है।

यह अलंकार विभावना का विलोम है, जिसमें बिना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन रहता है। यद्यपि ऐसे विचार करने से इन दोनों अलंकारों का विषय-विभाग बड़ा स्पष्ट प्रतीत होता है पर जहाँ शब्द से निषेध नहीं रहकर (विभावना में कारण का और विशेषोक्ति में कार्य का) आर्थ निषेध रहता है वहाँ विभावना है या विशेषोक्ति यह निर्णय करना कठिन होता है।

विशेषोक्ति में कारण के रहते कार्य न होने में कहीं तो निमित्त उक्त रहता है और कहीं अनुक्त। इस प्रकार विशेषोक्ति के दो भेद कर सकते हैं :—

(१) उक्तनिमित्ता—जिसमें कार्य की उत्पत्ति न होने का निमित्त (कारण) उक्त हो।

(२) अनुक्तनिमित्ता—जिसमें कार्य की उत्पत्ति न होने का निमित्त (कारण) उक्त न हो।

कुछ लोग अचिन्त्यनिमित्ता नाम से एक तीसरा भेद भी मानते हैं पर वह भी अनुक्तनिमित्ता में ही गतार्थ है। अतः उसकी पृथक् गणना अनावश्यक है।

---

† सति हेतौ फलाभावः विशेषोक्तिर्निगद्यते। सा० द०

उक्तनिमित्ता :—

नेह न नैननि को कछु, उपजी बड़ी बलाय ।
नीरभरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥

यहाँ कारण (जल भरे रहना) के रहते हुए भी कार्य (प्यास का बुझना) का अभाव है। उसका निमित्त (कारण) पूर्वार्द्ध में किसी बीमारी का होना कहा है, अतः उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है।

त्यों-त्यों प्यासेई रहत, ज्यों-ज्यों पियत अघाय ।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख-तृषा बुझाय ॥

जितना पीया जाय उतना ही प्यासा रहना इसमें कारण (पीना) के रहते कार्य (प्यास का बुझना) का अभाव वर्णित होने से विशेषोक्ति है। पर प्यास नहीं जाने का निमित्त 'सलोने' के द्वारा उक्त है। जिस पानी में नमक रहता है उसके पीने से प्यास नहीं बुझती। यह भी उक्तनिमित्ता है।

धन रहने पर भी गर्व नहीं, चञ्चलता नहीं जवानी में
जिसने देखी उनकी महानता वही पड़ा हैरानी में ॥

धन (कारण) के रहते गर्व (कार्य) के न होने और जवानी (कारण) के रहते चंचलता (कार्य) के न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। यहाँ महानता रूप निमित्त उक्त है।

अनुक्तनिमित्ता—

सोवत जागत सपनवस, रस रिस चैन कुचैन ।
सुरति स्याम घन की सुरति, बिसराये बिसरै न ॥

भुलाने पर भी न भूलना, कारण के रहते कार्य के अभाव का वर्णन है। यहाँ 'बिसरै न' इसका निमित्त (कारण) उक्त नहीं है इसलिए अनुक्तनिमित्ता है।

कीने हू साहस सहस, कीने जतन हजार।
लोयन लोयन-सिंधु-तन, पैरि न पावत पार॥

साहसपूर्वक हजारों यत्न करने पर (कारण की स्थिति में) भी लोचनों का शरीररूप लावण्य-सिंधु का तैर कर पार न होना (कार्य का अभाव) वर्णित है और इसका निमित्त नहीं कहा गया है, अतः अनुक्तनिमित्ता है।

अब छुटता नहीं छुड़ाये रँग गया हृदय है ऐसा।
आँसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा ऐसा। प्रसाद

यहाँ छुड़ाने पर भी रंग के नहीं छूटने में कारण के होते हुए भी कार्य का अभाव है।

असङ्गति

कारण कहीं (अन्यत्र) और कार्य कहीं (अन्यत्र) हो तो असङ्गति अलङ्कार होता है।†

असङ्गति का अर्थ है न (नहीं) सङ्गति (साथ)—साथ नहीं होना—कारण और कार्य में सङ्गति या साहचर्य का अभाव। नियम यह है कि जहाँ कारण रहता है वहीं कार्य भी होता है, जैसे यदि आग दिल्ली में लगे तो उसकी गर्मी का अनुभव कलकत्ते में नहीं होगा, उससे हानि कलकत्ते में नहीं होगी। कारण (आग लगना) जहाँ है कार्य (हानि) भी वहीं होगा। इस नियम के विपरीत असङ्गति में कारण कहीं और कार्य कहीं देखा जाता है। असङ्गति में विरोध का कुछ-न-कुछ आभास सर्वत्र रहता है। विरोध के आभास के अभाव में कारण और कार्य की भिन्नदेशिता में भी यह अलङ्कार नहीं होता। यहाँ

† कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायाम् असङ्गतिः। सा० द०

कार्य-कारण-भाव से जन्य-जनक-भाव मात्र नहीं समझना चाहिये, वह एकत्र स्थिति मात्र का उपलक्षण है ; तभी कई स्थलों पर कार्य-कारण-भाव के अभाव (केवल ऐकाधिकरण्य) में भी असङ्गति होती है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित-प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

यहाँ उलझती हैं आँखें (अतः टूटना भी उन्हें ही चाहिये क्योंकि जो चीज उलझती है वही टूटती है) पर टूटता है कुटुम्ब संबंध। फिर जो चीज टूटती है वही पीछे जुड़ती है ; यहाँ टूट तो रहा है कुटुंब (से संबंध) और जुड़ रहा है चतुरों के हृदय का प्रेम। वैसे ही जहाँ कोई वस्तु जोड़ी जाती है गाँठ भी वहीं पड़ती है पर यहाँ जुड़ रही है प्रेमियों के हृदय की प्रीति और गाँठ पड़ रही है दुर्जनों के हृदय में। इस प्रकार सर्वत्र कारण कहीं है और कार्य कहीं हो रहा है। असंगति का यह बड़ा ही सुंदर उदाहरण है।

दृगन लगत बेधत हियो, बिकल करत अँग आन।
ये तेरे सब तें बिषम, ईछन तीछन बान॥

यहाँ नैन रूपी बाण लगते हैं आँखों में, विद्ध करते हैं हृदय को और बेचैनी होती है सारे शरीर में। जहाँ तीर लगे बिंधना भी वहीं चाहिये और जहाँ बिंधे पीड़ा भी वहीं होनी उचित है पर इस दोहे में तीर लगते हैं कहीं, घाव लगता है कहीं और व्यथा होती है कहीं। इस प्रकार कारण और कार्य की भिन्न-भिन्न स्थलों पर स्थिति से असङ्गति है।

तुमने पैरों में लगाई मेंहँदी, मेरी आँखों में समाई मेंहँदी।
खूनी होते हैं जगत् के सब्ज रंग, दे रही है यह दुहाई मेंहँदी। दीन

मेंहदी लगी तो पैरों में और उसकी लाली छायी आँखों में (अनुराग के कारण)।

मेरे जीवन की उलझन, बिखरी थीं उनकी अलकें।
पीली मधु मदिरा किसने, थीं बन्द हमारी पलकें॥ प्रसाद

यहाँ उलझन में पड़ा है कोई और अलकें बिखरी हैं किसी की; मदिरा पी किसने और सुरूर चढ़ा किस पर! यह भी कोई ढंग है, पीए कोई और आँखें झिपें किसी और की; उलझन से परेशान हो कोई और लट बिखरे हों किसी और के! तभी तो आलंकारिकों ने इसे असङ्गति कह दिया है।

वह बाला पर हम अप्रगल्भ, वह नारी हम हैं कातर,
ढोती वह दो उन्नत उरोज औ' श्रमभर से हम आतुर,
उसके अतिगुरु जघनस्थल हैं, चलने में हम थक जाते,
यह तो विचित्र उसके दोषों से हम हैं बाधा पाते। ❀

कोई अपनी प्रेयसी को सङ्केत करके कह रहा है—

कम उम्र उसकी है और नादान हम बने हैं, (जिसकी कम उम्र हो नादान भी उसे ही होना चाहिये) इस तरह यहाँ नादानी का कारण कहीं अन्यत्र और कार्य कहीं अन्यत्र है। वैसे ही स्त्री तो वह है पर कातर हम हो रहे हैं (प्रेम में विवशता आ ही जाती है)। प्रतिपल दो उन्नत स्तन वह ढो रही है और श्रम का अनुभव हमें हो रहा है (कामपीड़ित होने से)। जाँघें तो उसकी भारी हैं (स्वाभाविक पीनता के कारण) पर चलने में थकावट हमें मालूम होती है (उसके पास से अन्यत्र जाने को जी नहीं चाहता)। इस प्रकार दूसरे के दोषों से हमारी तबाही हो रही है।

द्वितीय असङ्गति

अन्यत्र किये जाने योग्य कार्य को अन्यत्र करने में भी असंगति अलङ्कार होता है।

पलनि पीक, अंजन अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सो भलि करी, भले बने हो लाल॥

पान की पीक अधर में, अंजन पलकों में और महावर पैरों में होना चाहिये पर यहाँ पीक पलक में, अंजन अधर में और महावर ललाट पर है। इसलिये अन्यत्र किये जाने योग्य कार्य के अन्यत्र होने से यह असङ्गति का दूसरा भेद है।

विषम

यदि (१) दो विरूप (बेमेल) पदार्थों का संबन्ध बताया जाय,

या (२) कार्य और कारण के गुण अथवा क्रियायें परस्पर विरुद्ध हों,

या (३) कार्यानुकूल फल की प्राप्ति न होकर अनिष्ट घटित हो जाय,

तो विषम अलङ्कार होता है।†

विषम का अर्थ है अनमिल—बेजोड़। इस अलङ्कार में ऐसे ही पदार्थों की संघटना रहती है जो आपस में अनमिल होते हैं। प्राय: इसमें 'कहाँ' आदि पदों के द्वारा वैषम्य सूचित करते हैं।

प्रथम विषम

जहाँ दो विरूप (बेमेल) पदार्थों का सम्बन्ध बतलाया जाय।

---

† गुणौ क्रिये वा चेत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यद्वारब्धस्य वैफल्यम् अनर्थस्य च सम्भवः।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्॥ सा० द०

को कहि सकै बड़ेन की, लखे बड़ी हू भूल।
दीन्हें दई गुलाब के, इन डारन ये फूल॥

कहाँ तो गुलाब की कँटीली डाल और कहाँ वैसे सुंदर फूल! इन दो बेमेल वस्तुओं का एकत्रीकरण विधाता की बुद्धिहीनता का ही तो परिणाम है।

मैं कै वा बिनती करी, मान ठानि दुख दैन।
कहाँ मधुर मृदु मुख, कहाँ कठिन काठ से बैन॥

किसी मानिनी का मान निवारण करते हुए उसकी कठोर झिड़कियों पर नायक कहता है कि कहाँ तो यह मधुर-मंजुल मुखड़ा और कहाँ यह कठोरता से भरी वाणी! यहाँ सुंदर मुख और कठोर वाणी इन दो विरूप पदार्थों का मेल बताया गया है।

अभिषेक कहाँ, वनवास कहाँ?
है नहीं क्षणिक विश्वास यहाँ। साकेत

यहाँ अभिषेक और वनवास इन दो बेमेल वस्तुओं की संघटना है।

द्वितीय विषम

कार्य और कारण के गुण या क्रियायें परस्पर विरुद्ध हों।

गुण-वैषम्य :—

स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम।
इनते भइ सित कीरति अति अभिराम॥

यहाँ राम-लक्ष्मण श्याम और गौर वर्ण हैं और उनसे कीर्त्ति उज्ज्वल उत्पन्न हुई है; कीर्त्ति को भी कारण के गुणानुरूप

श्याम-श्वेत होना चाहिये था। इस प्रकार कारण के गुण और कार्य के गुण विपरीत हैं।

> उपजे जदपि पुलस्तकुल, पावन-अमल-अनूप।
> तदपि महीसुर सापबस, भये सकल अघरूप॥

यहाँ निर्मल और पावन पुलस्त्य के कुल में रावण जैसे सकल-पापमय व्यक्ति का जन्म लेना कारण-कार्य के गुण-वैषम्य का उदाहरण है।

क्रिया-वैषम्य :—

> प्रान-प्रिये तू निकट मैं, आनँद देत अपार।
> पर तेरे ही विरह कौ, ताप करत तन छार।

यहाँ कारण नायिका है जिसका कार्य आनंद देना है, पर उसीसे उत्पन्न विरह अपने ताप से जलाकर शरीर को भस्म कर देता है। इस प्रकार आनंद देनेवाली नायिका के ही विरह के द्वारा जलाने की क्रिया में कारण-कार्य का विरोध है।

तृतीय विषम

कार्यानुकूल फल प्राप्त न होकर अनिष्ट घटित हो जाय।

> लोने मुख दीठि न लगै, यों कहि दीन्हौ ईठि।
> दूनी ह्वै लागन लगी, दिये दिठौना दीठि॥

यहाँ मुख पर 'दिठौना' लगाने का इष्ट फल है उस पर नजर नहीं लगना जो नहीं हुआ; इसके विपरीत उस 'दिठौने' से आकृष्ट होकर उस पर और भी आँखें लगने लगीं जो अनभीष्ट फल की प्राप्ति है।

साजे मोहन मोह को, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं उलटे पड़े, टोने लोने नैन॥

किसी नायिका ने अपनी आँखों को सुरमे आदि से सजा कर नायक को वश में करना चाहा पर नायक को देखते ही (उसकी अलौकिक सुंदरता के कारण) वह आपही उसके वश में हो गयी। नायक को वश में करना सुरमा लगाने का वांछित फल था जो नहीं हुआ और उसके प्रतिकूल वह आप ही उसके प्रेम में पड़ गयी, अत: अनभीप्सित फल मिला।

तुम्हें बना सम्राट देश का राजसूय के द्वारा,
केशव ने था ऐक्य-सृजन का उचित उपाय विचारा;
सो परिणाम और कुछ निकला, भड़की आग भुवन में,
द्वेष अंकुरित हुआ पराजित राजाओं के मन में। कुरुक्षेत्र

यहाँ ऐक्यसृजन का प्रयास तो असफल हुआ ही उलटे देश में द्वेष की आग भड़क उठी।

भिक्षुक वह भिक्षा की आशा लिये हृदय में आया।
भिक्षा रही दूर, साहब ने अर्द्धचन्द्र दिखलाया। *

यहां भिक्षुक को भिक्षा तो नहीं ही मिली, बल्कि उसके विपरीत गर्दन पकड़ कर वह बाहर निकाल दिया गया।

सम

यदि (१) परस्पर अनुरूप वस्तुओं का योग्य संबंध-वर्णन हो, या (२) कारण के गुणानुकूल कार्य के गुण बताये जायँ, या (३) बिना अनिष्ट के आरब्ध कार्य की सिद्धि हो, तो सम अलङ्कार होता है। †

---

† समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः। सा० द०

सम का अर्थ है सदृश, समान, बराबर। इसमें सदृश पदार्थों की एकत्र अवस्थिति रहती है। यह विषम का प्रतिलोम है। प्राचीन आचार्यों ने योग्य वस्तुओं के संबन्ध-वर्णन में ही सम अलङ्कार माना है पर पीछे के आलङ्कारिकों ने विषम का सम-कोटिक बनाने के लिये इसके भी तीन भेद कर डाले और प्रत्येक भेद विषम के एक-एक भेद के वैपरीत्य में मान लिया। पर इसके तीसरे भेद में कोई विशेष चमत्कृति नहीं रहती जैसा उदाहरण से स्पष्ट होगा।

प्रथम सम

परस्पर अनुरूप वस्तुओं का योग्य संबन्ध-वर्णन।

नैन सलोने, अधर मधु, कहु 'रहीम' घटि कौन।
मीठो भावै नोन पै, औ मीठे पर नोन॥

यहाँ भी 'सलोने नैन' और 'मधु अधर' का अनुरूप संबन्ध वर्णित है।

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

यहाँ राधा और कृष्ण की योग्य जोड़ी की श्लाघा है।

मिल रहे नवल बेलि-तरु, प्राण!
शुकी-शुक, हंस-हंसिनी संग,
लहर-सर, सुरभि-समीर विहान,
मृगी-मृग, कलि-अलि, किरण-पतंग।—पंत

यहाँ सम की माला है।

भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए,

जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का, दो दो साथ हुए। कामा०

यहाँ सरिताओं और शैलों तथा समुद्र और पृथ्वी का अनुरूप संबंध कहा गया है।

ये उदाहरण केवल अच्छी वस्तुओं के संबन्धवर्णन—सद्योग—के हैं। कहीं केवल बुरी वस्तुओं के संबन्धवर्णन में भी समालङ्कार होता है। संसार में अच्छे-अच्छे का मेल होता है तो बुरे-बुरे का भी तो मेल देखा जाता है।

कह 'रसाल' कबि फबति अति, मित्र नीच हित नीच।
सोहत है मंडूक कौ, कारो कलुपित कीच॥

यहाँ मेढ़क और कीच दोनों निकृष्ट हैं।

कहीं सदसद् उभय-योग में भी सम होता है—

मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज॥

यहाँ पाप नष्ट करनेवाले और पाप करनेवाले (सत् और असत्) का योग प्रदर्शित है।

द्वितीय सम

कारण के अनुकूल कार्य के गुण का वर्णन।

करत लाल मनुहारि पै, तू न लखत इहि ओर।
ऐसो उर जु कठोर तौ, उचित हि उरज कठोर॥

नायक किसी मानिनी का मान दूर करने की चेष्टा कर रहा है पर नायिका उसकी बात मानती नहीं। इस पर समीपस्थ सखी कहती है कि ठीक ही मैंने आज जाना कि तेरा उर (हृदय)

इतना कठोर है, इसीलिये तो तेरे उरज (स्तन जो उर से ही उत्पन्न हैं) भी ऐसे ही कठोर हैं। यहाँ हृदय (कारण) की कठोरता स्तन (कार्य) में वर्त्तमान है। इस प्रकार कारण-कार्य के गुण में आनुरूप्य है।

जो कानन तें उपजि कै, कानन देत जराय।
तो पावक सों उपजि घन, हनै पावकहिं न्याय॥

आग जंगल से पैदा होकर जंगल को ही जला डालती है अर्थात् अपने उत्पादक का नाश कर देती है। उस अग्नि से उत्पन्न होनेवाला मेघ भी वैसा ही है (धूएँ से मेघ की उत्पत्ति मानते हैं)। वह अग्नि से उत्पन्न होकर भी (जल से) उसी को बुझा डालता है। यहाँ भी कारण के गुण के सदृश ही कार्य का गुण है।

तृतीय सम

बिना अनिष्ट के आरब्ध कार्य की सिद्धि हो।

राधा पूजी गौरजा, भर मोतीड़ाँ थाल।
मथुरा पायो सासरो, बर पायो गोपाल॥ भा० भू०

यहाँ राधा ने जिस उद्देश्य से पार्वती की पूजा की उसमें बिना किसी अनिष्ट के सिद्धि हुई। मथुरा ससुराल और वर गोपाल मिले।

दुंदुभि अस्थि ताल दिखराये। बिनु प्रयास रघुबीर ढहाये।

सुग्रीव ने राम की अस्त्रविद्या की निपुणता जाँचनी चाही। राम ने वैसा किया और बिना किसी विघ्न-बाधा के सफल हुए।

विचित्र

अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये उसके विपरीत कार्य करना विचित्र अलंकार है। †

विचित्र का अर्थ जैसा नाम से ही स्पष्ट है, अद्भुत या आश्चर्यकर है। यदि गंतव्य स्थान हो पूर्व में और कोई चले पश्चिम की ओर तो यह विचित्र कार्य कहा जायगा। वैसे ही विचित्र अलंकार में इच्छा कुछ दूसरी रहती है और उसकी पूर्ति के लिये जिस मार्ग का अवलम्बन किया जाता है, वह सर्वथा भिन्न होता है। इसीलिये इसे विचित्र कहते हैं।

मरिबे को साहस ककै, बढ़े बिरह की पीर।
दौरति है समुहें ससी, सरसिज, सुरभि-समीर।

मरने की इच्छा से चन्द्रमा, कमल और सुगन्धित समीर के सामने दौड़ना विचित्र है। मारने के साधन के विपरीत चन्द्रमा आदि से मरने की इच्छा की गयी है।

सुखी बनने को सहते क्लेश,
अमर होने को देते प्राण,
निराली कैसी उनकी रीति,
जिन्हें है प्रिय स्वदेश-कल्याण! ❀

यहाँ सुखी बनने के लिये क्लेश सहना और अमर होने के लिये प्राण देना, इष्टफल-प्राप्ति के विरुद्ध कार्य है, अतः विचित्र अलंकार है।

आँखों में तुम्हें चुराकर मैं आँख बन्द कर लेती।
फिर गर्दन झुका खुशी से मैं मिलने को सिर देती॥ नूर०

---

† विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्। सा० द०

मिलने के लिये सिर कटाने में इष्टफल के विपरीत कार्य है, अतः यहाँ भी विचित्र है।

जगत घट को विष से कर पूर्ण किया जिन हाथों ने तैयार,
लगाया उसके मुख पर नारि ! तुम्हारे अधरों का मधुसार,
नहीं तो कब का देता तोड़ पुरुष विष-घट यह ठोकर मार,
उसी मधु का लेने को स्वाद हलाहल पी जाता संसार। अञ्चल

मधु का स्वाद लेने के लिये हलाहल-पान करना विचित्र है।

अधिक

आधार और आधेय में से किसी एक के आधिक्य-वर्णन को अधिक अलंकार कहते हैं।†

आधार उसे कहते हैं जिस पर कुछ रखा जाय और आधेय उसे जो रखा जाय, जैसे मेज पर किताब है, यहाँ मेज आधार है और किताब आधेय।

अधिक अलंकार में कहीं आधेय की अपेक्षा आधार का और कहीं आधार की अपेक्षा आधेय का आधिक्य दिखाया जाता है। यह आधिक्य-वर्णन कवि-प्रतिभा-जन्य होने से ही अलङ्कार हो सकता है, वास्तविक होने से नहीं।

आधार का आधिक्य :—

भुवन चतुर्दस रहत हैं, जा हरि मूरति माँहि।
निज उर में सुख सों धरति, अरी राधिके ताहि॥

यहाँ चौदहों भुवनों के धारण करनेवाले हरि को भी हृदय में धारण करने से आधेय (हरि) की अपेक्षा आधार (हृदय)

† आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते। सा० द०

का आधिक्य प्रतिपादित किया गया है, अतः अधिक अलङ्कार है।

इतना सुख जो न समाता अन्तरिक्ष में जल-थल में।
मुट्ठी में तुम ले बैठे आश्वासन देकर छल में॥ प्रसाद

यहाँ भी जो सुख अंतरिक्ष-जल-थल में न समाता वह मुट्ठी में अँट गया ऐसा कहने से आधेय (सुख) की अपेक्षा आधार (मुट्ठी) का आधिक्य उक्त है।

आधेय का आधिक्य :—

तेरो जस मावत न चौदहू भुवन में।

यहाँ आधार (भुवन) की अपेक्षा आधेय (यश) का आधिक्य वर्णित है।

सिव प्रचंड कोदंड को, तानत प्रभु भुजदंड।
भयो खंड तव चंड रव, नहिं मायो ब्रह्मंड॥ का० क०

यहाँ राम के द्वारा तोड़े गये धनुष के शब्द का ब्रह्माण्ड में नहीं अँटना कहा जाने से आधार की अपेक्षा आधेय का आधिक्य दिखाया गया है।

अन्योन्य

यदि दो वस्तुएँ परस्पर एक ही क्रिया को करें तो अन्योन्य अलङ्कार होता है। †

अन्योन्य का अर्थ है परस्पर। इसमें दो के द्वारा परस्पर एक ही कार्य का करना बताया जाता है।

अँगुरिन उचि, भरु भीति दै, उलमि, चितै चख लोल।
रुचि सों दुहूँ दुहूँन के, चूमे चारु कपोल॥

---

† अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः। सा० द०

नायक और नायिका एक दूसरे को चूमती हैं ; इस चुम्बन रूप एक क्रिया को परस्पर करने से अन्योन्य अलङ्कार है ।

मानिनि राधा को मिले, जात गुमानी स्याम ।
करि कटाच्छ दोऊ दिए, बेधि दोऊ हिय धाम ॥

यहाँ राधा और कृष्ण दोनों कटाक्ष से एक दूसरे का हृदय विद्ध करते हैं । हृदय-वेधन क्रिया के दोनों परस्पर कर्त्ता हैं ।

आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिखलाओ ।
कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ ॥ साकेत

यहाँ सीता और मयूर का परस्पर शिक्षा देना वर्णित रहने से अन्योन्य अलङ्कार है ।

परस्पर एक ही क्रिया को करना उपलक्षण समझना चाहिये । दो वस्तुओं के परस्पर संबन्ध-वर्णनमात्र में अन्योन्य अलङ्कार मानना उचित है ; जैसे :—

वह तुम्हारे और तुम उसके लिये
चाहिये पारस्परिकता हो प्रिये ! साकेत

यहाँ परस्पर क्रिया का करना नहीं है फिर भी अन्योन्य का रूप स्पष्ट है ।

अश्रुओं में रहता है हास,
हास में अश्रुकणों का भास ;
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास,
और उच्छ्वासों में ही श्वास !—पन्त

यहाँ भी अन्योन्य है ।

विशेष

यदि (१) आधार के बिना आधेय की स्थिति का वर्णन हो,
या (२) एक पदार्थ का एक ही समय में अनेक स्थलों पर स्थित रहना कहा जाय,
या (३) किसी एक कार्य को करते हुए किसी दूसरे अशक्य कार्य की सिद्धि हो जाय,
तो विशेष अलङ्कार होता है। †

विशेष का अर्थ है असाधारण। इस अलङ्कार में ऐसी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है जो सामान्य नियम के भीतर नहीं आतीं, उनमें कुछ विशेषता—कुछ विलक्षणता रहती है। यदि विशेष के तीनों भेदों को किसी एक लक्षण से व्यक्त करना चाहें तो ऐसी सामान्य परिभाषा दे सकते हैं—यदि किसी विशेष (विलक्षण) वस्तु का वर्णन हो तो उसे विशेष अलंकार कहते हैं। उपर्युक्त तीनों भेद इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

प्रथम विशेष

आधार के बिना आधेय की स्थिति का वर्णन।

संसार में कोई भी वस्तु (आधेय) किसी आधार पर टिकी रहती है पर इस अलंकार में इसके प्रतिकूल बिना किसी आधार के आधेय का वर्णन पाया जाता है।

---

† (१) यदाधेयमनाधारम् ; (२) एकञ्चानेकगोचरम् ;
(३) किञ्चित् प्रकुर्वतः कार्यम् अशक्यस्येतरस्य वा,
कार्यस्य करणं दैवाद्, विशेषः त्रिविधस्ततः। सा० द०

वन्द्य सुकवि थे, स्वर्ग गये जो,
फिर भी जिनकी वाणी
सदा जगत में जीवित रहती
सरस, मंजु, कल्याणी। ०

यहाँ आधाररूप कवियों के अभाव में (स्वर्ग जाने पर) भी आधेयरूप उनकी वाणी की स्थिति वर्णित है, अतः विशेष अलंकार है।

सूरबीर, दाता, सुकबि, सेतु करावन हार।
बिना देहहू 'दास' ये, जीवत इहि संसार॥

शूर, दाता, कवि आदि का शरीर के बिना भी जीवित रहना कहा गया है। शरीर (आधार) के बिना जीवन (आधेय) की स्थिति कैसे संभव है पर उसीका यहाँ वर्णन है।

द्वितीय विशेष

एक पदार्थ एक ही समय में अनेक स्थलों पर स्थित हो।

एक ही तो असीम - उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल-जलनिधि में हरित-विलास,
शान्त अम्बर में नील-विकास;

वही उर-उर में प्रेमोल्लास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल - तारक - पलकों में हास,
लोल लहरों में लास!—पंत

यहाँ एक ही सत्ता का स्पन्दन एक ही समय में अनेक स्थलों पर वर्त्तमान है।

कवि बचनन, मुसुखिन दृगन, जनक सुता हिय माहि।
प्रविशे श्री रघुवंश मनि, तोरत ही धनु ताहि॥ अ० कौ०

धनुर्भङ्ग के अनंतर श्री राम का एक ही रूप से एक ही समय कविवचन आदि अनेक स्थलों में प्रविष्ट होना वर्णन किया गया है।

गोपिन सँग निसि सरद की, रमत रसिक रस रास।
लहाछेह अति गतिन की, सबहिं लखे सब पास॥

यहाँ श्रीकृष्ण का एक ही समय अनेक स्थलों पर रहना वर्णित है।

तृतीय विशेष

एक कार्य के करते हुए किसी दूसरे अशक्य कार्य की सिद्धि हो जाय।

सीतहिं दीन्ह सोहाग सुख, मद भूपनि को तोरि।
निज जन सुख दै, जीति लै, लई राम धनु तोरि॥

यहाँ एक धनुष तोड़ते हुए राम ने सीता को सौभाग्यदान, राजाओं का मान-भंग, आत्मीयों को सुख देना इत्यादि कई अशक्य कार्य किए हैं।

राम राम रसना रट्यौ, मिल्यौ सु रामानन्द।
सकल पाप अरु ताप-त्रय, नास भये दुखद्वन्द।

यहाँ रामनाम रटने से राम की प्राप्ति के साथ पाप, ताप-त्रय, दुखद्वन्द्व आदि के विनाशरूप कार्यों की सिद्धि भी हो गयी है।

प्रभु-पद धोकर भक्त आप भी धो गया।
कर चरणामृत पान अमर वह हो गया। साकेत

राम का पैर धोते हुए भक्त का आप भी धुल जाना अशक्य कार्य की सिद्धि है।

व्याघात

किसी के द्वारा एक प्रकार से सिद्ध किये गये कार्य को यदि दूसरा कोई उसी प्रकार से अन्यथा (असिद्ध) कर दे तो व्याघात अलङ्कार होता है।†

व्याघात का अर्थ है वि (विशेष) आघात (चोट) अर्थात् विशेष प्रकार का आघात या चोट। इसमें एक विशेष प्रकार की चेष्टा से दूसरे के किये गये कार्य को वैसे ही उलट दिया जाता है।

लोचन से जो जला काम, हैं उसे जिलातीं लोचन ही से।
क्यों न त्रिलोचन की जयिनी वे वामलोचनायें इतरायें ? ६४३

शङ्कर ने कामदेव को नेत्र से भस्म किया और उसी (कामदेव) को नेत्र से ही नारियाँ जिला देती हैं (स्त्रियों के कटाक्ष से काम की उत्पत्ति होती है अर्थात् वह जीवित हो उठता है)। अतः जिस प्रकार से काम भस्म हुआ उसी प्रकार से उसे जीवित करने का वर्णन होने से व्याघात है।

बिथुर्‌यो जावक सौति-पग, निरखि हँसी गहि गाँस।
सलज हँसौहीं लखि लियो, आधी हँसी उसाँस॥

---

† यथा साधितस्य तथैव अन्येन अन्यथाकरणं व्याघातः। रूय्यक

एक नायिका ने हँस कर दूसरी नायिका के प्रति अधिक्षेप की भावना व्यक्त की पर दूसरी नायिका ने भी हँस कर ही उसकी उस भावना को मिटा दिया।

(अपनी सौत के पैर में महावर इधर-उधर फैला देखकर उस नायिका ने उसे फूहड़ समझ कर हँस दिया। इस पर उस सौत ने भी विलासयुक्त लज्जा से मुस्कुरा दिया जिसका तात्पर्य था कि यह मेरा फूहड़पन नहीं है बल्कि नायक ने यह महावर मेरे पैर में लगाया है पर सात्त्विक भाव के उदय हो आने के कारण उसका हाथ इधर-उधर हिल जाने से महावर यत्र-तत्र फैल गया है। इस बात को जानकर उसके सौभाग्य पर वह पहली नायिका उच्छ्वास लेने लगी। यहाँ जिस हँसी से नायिका ने निंदा (फूहड़पन) की बात व्यक्त की है उसे उसी हँसी से उसकी सौत ने मिटा दिया है।)

यदि कोई सुगमता से किसी कार्य को उलट दे तो भी व्याघात अलङ्कार होता है। †

जौ पिय जानतु हौ हमको अबला तो हमें कबहूँ मति छोड़ो।

यहाँ वन जाते हुए राम ने सीता को यह कहकर साथ जाने से रोका कि तुम 'अबला' हो अतः मार्ग के कष्टों को नहीं सहन कर सकोगी। इस पर सीता कहती हैं कि चूँकि मैं अबला हूँ इसीलिये मेरा साथ चलना और आवश्यक है क्योंकि यहाँ रह कर मैं विरह का दुस्सह कष्ट कैसे सह सकूँगी—'अबला' को कष्ट सहने का बल कहाँ से आयेगा ? इस प्रकार यहाँ आसानी से—उसी शब्द के प्रयोग से बात को उलट दिया गया है।

लोभी धन संचय करै, दारिद को डर मानि।
'दास' यहै डर मानि कै, दान देत है दानि॥

---

† सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि। सा० द०

यहाँ जिस दरिद्रता के डर से लोभी दान नहीं देता उसी दरिद्रता के डर से दानी सर्वस्व दान कर देता है अर्थात् लोभी को यह डर रहता है कि दान करने से धन घट जायगा और वह दरिद्र हो जायगा पर दानी को यह डर रहता है कि धन घट जाने पर फिर दान का मौका नहीं मिलेगा अतः पहले ही दान कर लेना चाहिये।

कारणमाला

यदि पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के कारण रूप से वर्णित होते चलें तो कारणमाला अलंकार होता है। †

जैसा नाम से ही स्पष्ट है, कारणमाला का अर्थ है कारणों की माला। जैसे अनेक फूलों को गूँथने से माला तैयार होती है वैसे ही इस अलंकार में अनेक कारण एकत्र परस्पर पिरोए रहते हैं—पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के कारण बनते जाते हैं। इस प्रकार अनेक कारणों की शृंखला बन जाने से इसे कारणमाला कहते हैं।

होत लोभ ते मोह, मोहहिं ते उपजे गरब।
गरब बढ़ावे कोह, कोह कलह, कलहहु व्यथा ॥ अ० कौ०

यहाँ लोभ मोह का, मोह गर्व का, गर्व क्रोध का, क्रोध कलह का और कलह व्यथा का कारण कहा गया है, अतः कारणों की एक माला-सी बन गयी है। इसलिये इस उदाहरण में कारणमाला अलंकार है।

---

† परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता, तदा कारणमाला स्यात्। सा० द०

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिस्राम ॥

यहाँ विश्वास भक्ति का, भक्ति राम-कृपा का और राम-कृपा जीव की शान्ति का उत्तरोत्तर कारण बतायी गयी हैं, अतः कारणमाला अलंकार है। पूर्वोक्त उदाहरण में विधि-मुख से और इसमें निषेधरूप से कारणमाला की निष्पत्ति है।

सच्चा जहाँ है अनुराग होता, वहाँ स्वयं ही बस त्याग होता।
होता जहाँ त्याग वहीं सुमुक्ति, है मुक्ति के सम्मुख तुच्छ भुक्ति ॥

यहाँ अनुराग त्याग का और त्याग मुक्ति का कारण कहा गया है।

कहीं उत्तरोत्तर कथित पदार्थ ही पूर्व-पूर्व कथित पदार्थों के कारण होते हैं; वहाँ भी कारणमाला होती है।

अन्न मूल घन, घनन को मूल जज्ञ अभिराम।
ताको धन, धन को धरम, धर्ममूल हरिनाम ॥

यहाँ पूर्व-कथित 'अन्न' कार्य है और उत्तर-कथित 'घन' (वर्षा) उसका कारण है। फिर वह कारण 'घन' ही कार्य हो गया है और 'यज्ञ' उसका कारण है। वैसे ही आगे यज्ञ का कारण धन, धन का धर्म और धर्म का हरिनाम बताया गया है। इस भाँति यहाँ उत्तरोत्तर कथित पदार्थ पूर्व-पूर्व पदार्थों के कारण बनते चले गये हैं।

सुजस दान, अरु दान धन, धन उपजै किरपान।
सो जग मैं जाहिर करी, सरजा सिवा खुमान ॥

यहाँ पहले कहे हुए यश का पीछे कहा हुआ दान, दान का धन, धन का कृपाण, और कृपाण का कारण शिवाजी कहे गये हैं।

ईश ! तुम्हारी कृपा भक्ति से, भक्ति भाग्य से होती। *

यहाँ भगवान् की कृपा का कारण भक्ति और भक्ति का कारण भाग्य कहा गया है।

एकावली

यदि पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति पर-पर वस्तु का विशेषण रूप से स्थापन या निषेध हो तो एकावली अलंकार होता है। †

एकावली का अर्थ है हार या माला। जिस प्रकार अनेक कड़ियों को परस्पर पिरोकर एक लड़ी या हार तैयार करते हैं वैसे ही 'एकावली' में अनेक वस्तुओं की—परस्पर विशेष्य-विशेषण भाव से निबद्ध कई कड़ियों की—एक 'अवली' या लड़ी बनती है। कहीं तो उस विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध की स्थापना होती है और कहीं निषेध।

विशेषणरूप से स्थापना—

मानुष वही जो हो गुनी, गुनी जो कोबिद रूप।
कोबिद जो कबिपद लहै, कबि जो उक्ति अनूप॥

यहाँ 'मानुष' विशेष्य और 'गुनी' उसका विशेषण है; आगे चलकर यह 'गुनी' ही विशेष्य हो जाता है और 'कोबिद' उसका विशेषण, फिर 'कोबिद' विशेष्य 'कवि' विशेषण और अन्त में 'कवि' विशेष्य और 'अनूठी उक्तिवाला' उसका विशेषण है। इस प्रकार अनेक वस्तुएँ परस्पर विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध से जुड़ी हुई हैं—पूर्व-पूर्व वस्तुएँ विशेष्य और

---

† पूर्व-पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा॥ सा० द०

उत्तरोत्तर विशेषण बनती चलती हैं। यहाँ विशेषण रूप से स्थापना है।

सुमति वह जु निज हित लखै, हित वह जित उपकार।
उपकृति वह जहँ साधुता, साधुन हरि आधार॥

यहाँ 'सुमति' विशेष्य का 'जु निज हित लखै' विशेषण है; आगे 'हित' स्वयं विशेष्य हो गया है और 'जित उपकार' उसका विशेषण है; फिर 'उपकार' का विशेषण है 'साधुता' और 'साधुता' का 'हरि आधार'। इस भाँति विशेष्य-विशेषण-भाव की अवली—शृंखला बन गयी है। यहाँ भी प्रत्येक स्थल पर स्थापना है।

विद्या वही जातें ज्ञान बढ़ै अरु ज्ञान वही करतव्य सुझावै।
है करतव्य वही जग में दुख आपने बंधुन को बिनसावै।
बन्धु वही जो बिपत्ति हरै औ बिपत्ति वही जो कि बीर बनावै।
बीर वही अपने तन को धन को मन को पर हेत लगावै॥

यहाँ विद्या आदि पूर्व-पूर्व के प्रति ज्ञान आदि अगले अर्थ विशेषण रूप से आये हैं।

विशेषणरूप से निषेध :—

गेह न कछु बिन तनय जो, तनय न बिनय-बिहीन।
बिनय न कछु बिद्या बिना, बिद्या बुधि बिन खीन॥

यहाँ पूर्व-पूर्व कथित गेह आदि विशेष्यों के प्रति उत्तरोत्तर कथित तनय आदि विशेषण रूप से उपन्यस्त है और 'न' से निषेध है।

न था जल जो पंकज से हीन,
न पंकज जिस पर अलि न निलीन,
न अलि जिसका न मधुर गुंजन,
न गुंजन जो न हरे जन-मन! ❀

यहाँ भी विशेषणों के द्वारा निषेध है।

विशेष्य-विशेषण-भाव के अभाव में भी एकावली अलंकार होता है अत: वह इसका अनिवार्य लक्षण नहीं। गृहीत-मुक्त-रीति से केवल एक श्रृंखला भर बन जाने में भी यह अलंकार सिद्ध हो जाता है, जैसे :—

पट में तन, तन में नवयौवन,
नवयौवन में छवि-माला थी;
छविमाला के भीतर जलती
पावन सतीत्व की ज्वाला थी। हल्दीघाटी

यहाँ विशेष्य-विशेषणभाव नहीं है फिर भी वस्तुओं के उत्तरोत्तर ग्रहण और त्याग की एक श्रृंखला बन गयी है, अत: एकावली अलंकार है।

यह मालारूप भी हो सकती है, जैसे:—

आज वन में पिक, पिक में गान,
विटप में कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम में रज, रज में मधु, प्राण!
सलिल में लहर, लहर में लास!—पंत

यहाँ चारों चरणों में पृथक्-पृथक् एकावली की स्थिति है।

मालादीपक

यदि पूर्व-पूर्व कथित वस्तुओं से उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म द्वारा संबंध कहा जाय तो माला-दीपक अलङ्कार होता है।†

माला दीपक में उपमानोपमेयभाव की विवक्षा नहीं रहती।

---

† तन्मालादीपकं पुनः
धर्मिणामेकधर्मेण संबन्धो यद् यथोत्तरम्। सा० द०

इसमें अनेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर एक धर्म से संबंधमात्र कहना अभीष्ट रहता है।

भू-मंडल में ब्रज बसत, ब्रज में सुन्दर स्याम।
सुन्दर स्याम-स्वरूप में, मो मन आठों जाम॥

यहाँ भू-मंडल से ब्रज, ब्रज से श्याम और श्याम से कवि के मन का (उत्तरोत्तर) संबंध बताया गया है जो 'बसत' इस एक क्रियारूप धर्म से निष्पन्न है।

कैसे कहाँ छूट कर जावे, आया है वह पकड़ा;
श्वास हृदय से, हृदय देह से, देह निगड़ से जकड़ा।

यहाँ श्वास का हृदय से, हृदय का देह से और देह का निगड़ (जंजीर) से, 'जकड़ा' इस एक क्रिया के द्वारा, संबंध कहा गया है।

सार

वस्तुओं के उत्तरोत्तर उत्कर्षवर्णन करने में सार अलङ्कार होता है।†

सार का अर्थ है उत्कृष्ट अंश अर्थात् विशेषता। इस में पूर्व-पूर्व वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर वस्तु की विशेषता या उत्कर्ष निर्धारित किया जाता है इसीलिये इसे सार कहते हैं। सार का दूसरा नाम 'उदार' भी है।

कुछ लोगों ने उत्तरोत्तर अपकर्षवर्णन में भी सार अलङ्कार माना है।

---

† उत्तरोत्तरमुत्कर्षः वस्तुनः सार उच्यते। सा० द०

उत्कर्ष में सार :—

सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सब ते अधिक मनुज मोहि भाये॥
तिन महँ द्विज, द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन महँ निगमनीति अनुसारी॥
तिन महँ पुनि बिरक्त, पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहु ते अतिप्रिय बिज्ञानी॥
तिन ते मोहि अति प्रिय निज दासा। जेहि गति मोर, न दूसर आसा॥

यहाँ और सबों की अपेक्षा मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, उन में भी वेदज्ञ, उन में वेदानुसार आचरण करनेवाले, उनकी अपेक्षा विरक्त, फिर ज्ञानी—विज्ञानी और उन में भी भगवद्भक्त का क्रमशः उत्कर्ष बताया गया है, इसलिये सार अलङ्कार है।

अति ऊँचे गिरि, गिरि से भी ऊँचे हरिपद हैं।
उन से भी ऊँचे सज्जन के हृदय विशद हैं॥ ॐ

यहाँ पर्वत की अपेक्षा भगवान् के चरण और चरणों की अपेक्षा भी सज्जनों के हृदय का उत्कर्ष वर्णित होने से सार अलङ्कार है।

कहीं साक्षात् सार शब्द के प्रयोग से ही उत्कर्ष प्रतिपादन किया जाता है, जैसे :—

जग को जीवन सार है, ताको संपति सार।
संपति को उपकार पुनि, सार कहत संसार॥

अपकर्ष में सार :—

सिला कठोरी काठ तें, तातें लोह कठोर।
ताहू तें कीन्हों कठिन, मन तुम नंदकिसोर॥

यहाँ काठ से शिला, शिला से लोहे और उससे भी अधिक कृष्ण के हृदय की कठोरता कही गयी है, अतः कठोरतारूप अपकर्ष के कारण सार है।

तृन तें लघु है तूल, तूलहु तें लघु माँगनो।

तृण की अपेक्षा रूई और रूई की अपेक्षा माँगना निकृष्ट है। यहाँ भी अपकर्ष में सार है।

'रहिमन' वे नर मर चुके, जे कहुँ मांगन जाहिं।
उनते पहिले वे मरे, जिन मुख निकसत नाहिं॥

यहाँ भी याचक की अपेक्षा नहीं देनेवाले का अपकर्ष कथित है, अतः यह भी अपकर्षमूलक सार अलङ्कार है।

यथासंख्य

क्रमशः उद्दिष्ट (कहे हुए) पदार्थों का यदि फिर उसी क्रम से अन्वय हो तो यथासंख्य अलङ्कार होता है।†

यथासंख्य का अर्थ है संख्या के अनुसार। इसमें एक क्रम से पहले कुछ पदार्थ कहे जाते हैं और फिर उसी क्रम से—जिस क्रम से पहले कथन हुआ रहता है—उनका दूसरे पदार्थों से अन्वय किया जाता है। इसे 'क्रम' अलङ्कार भी कहते हैं।

अमिय,[१] हलाहल,[२] मद[३] भरे, स्वेत,[१] स्याम,[२] रतनार।[३]
जिअत,[१] मरत,[२] झुकि झुकि[३] परत, जेहि चितवत इक बार।

यहाँ प्रथम चरण में जिस क्रम से अमिय, हलाहल और मद का कथन है उसी क्रम से प्रत्येक का द्वितीय और तृतीय चरणों में अन्वय किया जाता है, अमिय—स्वेत—जिअत (अमृत का वर्ण श्वेत और काम जिलाना है)। हलाहल—स्याम—मरत (हलाहल का वर्ण कृष्ण और काम मारना है)। मद—रतनार—झुकि-झुकि परत (मद का वर्ण लाल और काम नशा करना है)। इस तरह संख्यानुसार अन्वय करने पर इस कविता का चमत्कार और भी निखर उठता है।

---

† उद्दिष्टानां क्रमेण अनुनिर्देशः यथासंख्यम्। रुय्यक
यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्। सा० द०

मनि,[१] मानिक,[२] मुकता[3] छबि जैसी।
अहि,[१] गिरि,[२] गजसिर[3] सोह न तैसी॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रथम चरण में मणि, माणिक्य और मुक्ता का जिस क्रम से कथन है, द्वितीय चरण में उसी क्रम से उनका अन्वय करना पड़ता है। मणि सर्प के सिर पर, माणिक्य पर्वत पर और मुक्ता हाथी के मस्तक पर उत्पन्न होती है पर वहाँ उनकी वास्तविक सुन्दरता खिलती है नहीं।

वसन्त ने सौरभ ने पराग ने,
प्रदान की थी अतिकान्त भाव से।
वसुन्धरा को पिक को मिलिन्द को,
मनोज्ञता मादकता मदान्धता। प्रि० प्र०

वसन्त ने वसुन्धरा को मनोज्ञता, सौरभ ने पिक को मादकता और पराग ने मिलिन्द को मदान्धता प्रदान की थी, इस प्रकार यहाँ यथाक्रम अन्वय करना पड़ता है।

कुमुद इन्दु कौशिक, इन्दीवर रवि रथाङ्ग के हर्ष तेज सुख
विधि-विधान-वश जब क्रमशः थे ह्रास-वृद्धि-मय जग के सम्मुख;

कुमद और इन्दीवर का हर्ष, इन्दु और रवि का तेज, कौशिक (उल्लू) और रथाङ्ग (चकवा) का सुख इस प्रकार क्रमशः अन्वय किया जाता है। फिर ह्रास-वृद्धिमय के साथ एक और यथासंख्य होता है।

आनन बेनी नैन बैन पुनि दसन सुकटि[१] गति।
ससि सपिंन मृग पिक अनार केहरि करनिनपति।[२]
पुरन[3] खिझित अक[४] तरुन पक्क बरपंच[५] पुष्टबल।
सरद पताक बिछोह बाग तरु गिरि बनकज्जल।

१ कमर। २ गज। ३ पूर्ण। ४ सकपकाई हुई। ५ मंडली में श्रेष्ठ।

निसि सन्निबेस[1] सावक चुअत[2] बिगस प्रसूती मद झरत।
पृथिराज भनत बंसी बजत अस बनिता बनबन फिरत। अ० मं०

इस उदाहरण में प्रथम चरण में ७ वस्तुओं के नाम हैं, फिर दूसरे चरण में क्रमशः उनके उपमान कहे गये हैं, पुनः तीसरे, चौथे और पाँचवें चरणों में यथाक्रम उन्हीं के विशेषण कथित हैं। लाला भगवान दीन जैसे व्यापक अध्ययन वाले व्यक्ति ने लिखा है कि "इस अलङ्कार का इससे बढ़कर हमें कोई उदाहरण नहीं मिला।" वस्तुतः इतनी दूर तक यथासंख्य का निर्वाह कठिन है।

पर्याय

यदि एक वस्तु का अनेक वस्तुओं में अथवा अनेक वस्तुओं का एक वस्तु में क्रमशः रहना वर्णित हो तो पर्याय अलङ्कार होता है। †

पर्याय का अर्थ है क्रम—एक के बाद दूसरा। इस अलङ्कार में एक वस्तु अनेक वस्तुओं में या अनेक वस्तुएँ एक वस्तु में बारी-बारी से पायी जाती हैं।

१ वस्तु की अनेक वस्तुओं में क्रमशः स्थितिः—

पहली वर्षा की वे बूँदें
पहले गिरीं घनी पलकों पर,
पलकों से अधरों पर रुक कर,
उन्नत-कठिन उरोजों पर गिर
चूर्ण-चूर्ण हो, आगे बढ़ फिर
त्रिवली से नाभी तक पहुँचीं। ❀

१ घुसना। २ मदमस्त।

† एकमनेकस्मिन् अनेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्यायः। रुय्यक

यहाँ तपस्या करती हुई पार्वती के ऊपर वर्षारंभ की पहली बूँदें गिरकर किस प्रकार पलक, अधर, स्तन, त्रिवली आदि से होती हुई नाभि तक क्रमशः पहुँचती हैं इसका वर्णन है। तो एक वस्तु (बूँद) की अनेक वस्तुओं पलक, अधर, स्तन आदि में क्रमशः स्थिति वर्णित होने से पर्याय अलङ्कार है।

कभी काफिला होकर निकला ऊँचे शुष्क पहाड़ों से,
समतल मैदानों से होता हुआ कँटीले झाड़ों से। नूर०

यहाँ एक काफिले का पहाड़ों, मैदानों और कँटीले झाड़ों से होकर क्रमशः गुजरना कहा गया है।

हालाहल ! तुहि नित नये किन सिखए ये ऐन।
हिय-अंबुधि, हर-गर लग्यो, बसत अबै खल-बैन॥ का० क०

यहाँ एक ही हालाहल का अनेक आधारों–पहले समुद्र-हृदय, उसके बाद शिव के कंठ और अब दुष्टों के वचन—में क्रमशः रहना कहा गया है।

२ अनेक वस्तुओं की एक वस्तु में क्रमशः स्थिति :—

जिस रथ पर थे प्रसून झड़ते,
उस पर थे आज अश्रु पड़ते। साकेत

यहाँ अनेक वस्तुओं—पहले फूल और फिर अश्रु—का एक रथ पर गिरना उक्त है, अतः पर्याय अलङ्कार है।

सुनि गुन प्रथम भरी दृगनि, हरि दरसन की चाह।
पुनि छाके उहिं छबिहि, अब अँसुवा भरे अथाह। भा० भू०

यहाँ नायिका की आँखों में पहले कृष्ण के दर्शन की इच्छा, फिर उनकी छवि और अंत में आँसुओं की स्थिति का वर्णन है। इस प्रकार अनेक की एकत्र स्थिति होने से पर्याय है।

परिवृत्ति

जहाँ पदार्थों का परस्पर विनिमय हो वहाँ परिवृत्ति अलङ्कार होता है। †

परिवृत्ति का अर्थ है परिवर्त्तन अर्थात् अदल-बदल। इस अलङ्कार में एक वस्तु से दूसरी वस्तु के विनिमय—बदलने का वर्णन रहता है। एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह वस्तु-विनिमय कवि-प्रतिभोत्पन्न होने पर ही अलङ्कार होता है। वास्तविक विनिमय में चमत्कार नहीं रहने से अलङ्कारता नहीं रहती, जैसे गेहूँ देकर धान लेता है, यहाँ गेहूँ-धान का वास्तविक विनिमय है, इसलिये यहाँ परिवृत्ति अलंकार नहीं है।

इस विनिमय के चार प्रकार संभव हैं :—

सम { (१) उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना।
(२) निकृष्ट वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु लेना।

विषम { (३) उत्तम वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु लेना।
(४) निकृष्ट वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना।

(१) उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना :—

मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
दो अहो नव्यता और भव्यता पाओ। —गुप्त

यहाँ नव्यता से भव्यता का सम विनिमय है।

लतिकाओं को पवन नृत्य सिखला रहा।
उनसे सुरभि पराग और वह पा रहा। ❀

यहाँ नृत्य सिखलाकर पराग पाने में उत्तम से उत्तम की परिवृत्ति है।

---

† परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैः भवेत्। सा० द०

(२) निकृष्ट वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु लेना :—

अस्थिमालमय देहिं तनु, मुंडमालमय पैहिं।
हे हर तव सेवा किये, कहा लाभ नर पैहिं॥

यहाँ अस्थिमय शरीर देकर मुंडमालामय शरीर पाने में निकृष्ट का निकृष्ट से विनिमय है। यहाँ व्याजस्तुति भी वर्त्तमान है। अस्थिमय शरीर के बदले मुंडमालामय शरीर देने में शंकर की निन्दा के बहाने स्तुति है—मानवशरीर लेकर अपना शरीर देना!

(३) उत्तम वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु लेना :—

दीन्हौं होइ सु पाइये, कहते बेद पुरान।
मन दै पाई बेदना, वाह हमारो दान॥

यहाँ मन—उत्तम वस्तु देकर, वेदना—निकृष्ट वस्तु पाना वर्णित है।

(४) निकृष्ट वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना :—

राधे! तेरी चतुरता, को न सराहे देत।
दै कै कठिन कटाच्छ तू, हिय हीरा हरि लेत॥

यहाँ कष्टदायक कटाक्ष (निकृष्ट वस्तु) से हृदय (उत्कृष्ट) का विनिमय है।

परिसंख्या

एक वस्तु की अनेक स्थानों में स्थिति संभव रहने पर भी अन्यत्र निषेध कर उसका एक स्थान में नियंत्रण कर देना परिसंख्या अलङ्कार है।†

---

† एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या। रुय्यक

परिसंख्या का अर्थ है छोड़कर (परि) वर्णन करना (संख्या)।[1] अर्थात् जिस प्रसंग में दूसरों का भी कथन किया जा सकता था वहाँ और सबों को छोड़ किसी एक का ही कथन करना। तात्पर्य यह कि यदि किसी वस्तु की स्थिति अनेकत्र संभव हो पर उनमें से औरों का निषेध कर एक स्थान में ही उसका रहना कहा जाय तो परिसंख्या अलङ्कार होता है। जैसे 'राम के राज्य में वक्रता केवल सुंदरियों के कटाक्ष में थी।' यहाँ वक्रता की स्थिति कई जगह हो सकती है, मनुष्यों के हृदय में, उनके व्यवहार में आदि-आदि पर इस कथन द्वारा वक्ता का अभिप्राय है रामराज्य को सर्वथा निर्दोष बताना। अत: जहाँ जहाँ वक्रता दोष के रूप में रह सकती है वहाँ से उसका निषेध कर वह एक ही स्थल में उसकी स्थिति बतलाता है जहाँ उसका उत्कर्ष ही है, अपकर्ष नहीं।

मूलन ही की जहाँ अधोगति 'केसव' गाइय।
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय।
दुर्गति दुर्गन ही, जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में।

यह केशवदास द्वारा अयोध्या का वर्णन है—जहाँ अधोगति (नीचे जाना) केवल मूलों (पेड़-पौधों की जड़ों) की ही थी अर्थात् मनुष्यों की नहीं—सदाचारपरायण होने से उनकी अधोगति का प्रश्न ही नहीं उठता था। होम की अग्नि के धूएँ से ही नगर में मलिनता दिखायी पड़ती थी अर्थात् अनवरत लोगों के यज्ञ आदि करते रहने से हवनों से जो धूआँ निकलता

---

१ परि वर्जनेन संख्यानं वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या। अ० सू०
परिसंख्या इतरवर्जनबुद्धिरिति व्युत्पत्तिः, परिशब्दस्य वर्जनार्थत्वात् संख्याशब्दस्य च ज्ञानार्थत्वात्।—हरिदास वागीश (सा० द० ८।८५।)

था उसी से कहीं मलिनता दृष्टिगोचर होती थी, कूड़ाकरकट या आचरण आदि की गदंगी कहीं नहीं थी। दुर्गति में श्लेष है—'दुर्दशा' और 'कष्ट से जाना'। दुर्गति केवल दुर्गों (किलों) में थी और कहीं नहीं। कुटिल गति (टेढ़ी चाल) एक मात्र नदियों में था—मनुष्य सरल-शुद्ध हृदय के थे, उनमें कुटिलता नहीं थी। श्रीफल म भी श्लेष है जिसके अर्थ हैं, लक्ष्मी की प्राप्ति और बिल्वफल। श्रीफल की इच्छा केवल कवियों के हृदय में थी—स्तनों की उपमा देने के लिये कवि ही श्रीफल का चर्चा करते थे, किसी व्यक्ति के मन में लक्ष्मी का आकर्षण नहीं था क्योंकि सब कोई सुखी-संपन्न थे।

इस प्रकार अधोगति, मलिनता, दुर्गति, कुटिल गति, श्रीफल आदि का अन्य स्थानों से, जहाँ इनकी स्थिति संभव है, निषेध कर एक स्थान में वर्णन करने से परिसंख्या अलङ्कार है।

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्त्तक-नृत्य-समाज।
जीत्यौ मनसिज, सुनिय अस रामचंद्र के राज॥

भगवान् राम के राज्य में दंड (डंडा) केवल यतियों (संन्यासियों) के हाथ में रहता था तात्पर्य यह कि अपराध नहीं करने से दंड (सजा) किसी को नहीं भोगना पड़ता था। भेद (अन्तर,फूट) केवल नर्त्तकों के नृत्य के प्रसङ्ग में था; ताल के अनुसार उन्हें ही गतिभेद करना पड़ता था, किसी व्यक्ति की किसी से फूट नहीं थी, सभी सप्रेम रहते थे। विजय केवल काम की सुनी जाती थी; परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण कर विजय की इच्छा किसी को नहीं थी—सभी कोई सुख-समन्वित थे, परस्पर शोषण की भावना नहीं थी।

यहाँ भी दण्ड, भेद और विजय का अन्य स्थानों से निषेध कर एकत्र रहना वर्णित है।

पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दग, नवरस ही में वीर ॥ वि० हरि

वर्तमान युग की दुरवस्था का चित्र है—अब धनुष केवल वर्षा ही में दिखायी पड़ता है (इन्द्रधनुष के रूप में), लोगों के हाथ में नहीं क्योंकि सभी निर्बल और कायर हो गये हैं। तीर शब्द नदीतीर के लिये ही प्रयुक्त होता है बाण के लिये नहीं। कारण पूर्वोक्त ही है। आँखें भी लोगों की रोने से ही लाल होती हैं—दुःख से लोग आँसू बहाते हैं (उत्साह और बहादुरी के अभाव से क्रोध से किसी की आँखें नहीं लाल होतीं)। 'वीर' शब्द भी नवरस ही की चर्चा में यदा-कदा सुनायी पड़ जाता है—पृथ्वी ऐसी वीरविहीना हो गयी ! इस प्रकार धनु, तीर, लाल दग और वीर को अन्यत्र व्यावृत्त कर एक स्थान में नियंत्रित कर दिया गया है इसलिये परिसंख्या है।

देह में पुलक, उरों में भार,
भ्रुवों में भंग, दगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान।—पन्त

यहाँ पुलक आदि का अन्य स्थानों से निषेध कर केवल देह आदि में रहना बताया गया है।

ऊपर के ये चारों उदाहरण प्रतीयमान (व्यंग्य) निषेध के हैं। यहाँ अन्य-व्यावृत्ति शाब्द नहीं आर्थ है।

जहाँ व्यावृत्ति (निषेध) शब्दतः रहती है वहाँ निषेध वाच्य रहता है, जैसे:—

शास्त्र में रति कामिनी में है नहीं,
चाह भी है कीर्ति की, न शरीर की,

ध्यान ईश्वर का, न धन का है इन्हें,
हृदय जिनका उच्च और महान है। &

जो महान् हैं उनकी रति (प्रेम) शास्त्र में रहती है, कामिनी में नहीं। यहाँ 'कामिनी में नहीं' यह अन्य-व्यावृत्ति 'नहीं' शब्द के द्वारा वाच्य है; वैसे ही द्वितीय और तृतीय चरणों में भी निषेध वाच्य ही है।

परिसंख्या की स्थिति प्रश्नपूर्वक भी मानी गयी है। प्रश्न-पूर्वक में भी वाच्य-निषेध और व्यंग्य-निषेध ये दोनों प्रकार संभव हैं।

प्रश्नपूर्वक वाच्य निषेध :—

है भूषण क्या ? यश, नहीं रत्न आभूषण,
क्या कार्य ? आर्यशुभचरित, नहीं है दूषण,
क्या नेत्र ? विमल मति, नहीं चक्षुगोलक यह,
है मित्र कौन ? सद्धर्म, न नर लौकिक यह। का० क०

यहाँ 'भूषण क्या है' इस प्रश्न के साथ 'यश' का कथन है और फिर 'रत्न आभूषण नहीं है' इस प्रकार अन्यव्यावृत्ति है। इसी प्रकार और चरणों में भी प्रश्नपूर्वक निषेध वाच्य है।

प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान निषेध :—

सेव्य कहा ? तट सुरसरित, कहा ध्येय ? हरि-पाद।
करन उचित कह ? धर्म नित, चित तजि सकल विषाद। अ०को

'सेव्य क्या है' यह प्रश्न कर उत्तर दिया गया है 'गंगा का तट' पर और वस्तुएँ भी जो सेव्य हो सकती हैं उनका निषेध व्यङ्ग्य है, शब्दत: नहीं कहा गया है। वैसे ही अन्य चरणों में भी निषेध प्रश्नपूर्वक तो है पर पूर्वोक्त उदाहरण की तरह वाच्य नहीं व्यङ्ग्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने परिसंख्या की स्थिति इन चार प्रकारों से दिखला कर भी लिखा है कि ये भेद प्राचीनों के अनुसार हैं।[१] कुछ लोग केवल प्रतीयमान निषेध में ही परिसंख्या अलंकार मानते हैं। वाच्य-निषेधवाले स्थल शुद्ध परिसंख्या के हो सकते हैं परिसंख्या अलंकार के नहीं। जैसे हेतु अलंकार उसकी वाच्यता में नहीं अपितु आर्थता में ही होता है। बात भी यह सही है। ऊपर के प्रतीयमान निषेधों के मुकाबले में वाच्य-निषेधवाले उदाहरण सर्वथा नीरस और रूखे मालूम पड़ते हैं। अलंकारता का प्राण तो चमत्कार ही है और परिसंख्या का पूर्ण चमत्कार व्यावर्त्य के प्रतीयमान रहने पर ही निखरता है। यदि यह श्लेषमूलक हो जाय तब तो सोने में सुगन्धि आ जाती है जैसा ऊपर के कई स्थलों में निर्दिष्ट है।

संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ गद्यलेखक महाकवि बाणभट्ट की रचनाओं में परिसंख्या के जितने उत्कृष्ट और जितने अधिक उदाहरण हैं उतने और कहीं नहीं।

विकल्प

यदि तुल्य बलवाले दो पदार्थों का विरोध हो तो विकल्प अलङ्कार होता है। †

१ अत्र शाब्दी, प्रश्नपूर्विका चेति प्राचां मतम्। अन्ये तु 'व्यावृत्तेरार्थत्व एव परिसंख्यालङ्कारः, अन्यथा तु शुद्धा परिसंख्यैव। यथा हेतुत्वस्यार्थत्व एव हेतुरलङ्कारः अन्यथा हेतुमात्रम्। **रसगंगाधर—परिसंख्या-प्रकरण।**

† विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधः चातुरीयुतः। **सा० द०**

विकल्प का अर्थ है अन्यतर—दो में से एक—की स्थिति।

इसमें दो पदार्थ रहते हैं और दोनों में किसी एक का ही होना संभव होता है। चमत्कार तो रहना ही चाहिये। बिना चमत्कार के तो किसी अलङ्कार की निष्पत्ति ही नहीं हो सकती।

की तजि मान अनुज इव, प्रभु-पद-पंकज-भृंग।
होहि कि राम सरानल, खल! कुल सहित पतंग॥ अ० कौ०

यहाँ राम के चरणों की शरण में आना अथवा उनकी बाणाग्नि में भस्म होना दोनों में से कोई एक ही संभव है—उनमें कोई एक कोटि चुनने की बात है। इस प्रकार दो वस्तुओं का चमत्कारपूर्ण विकल्प होने से विकल्प अलङ्कार है।

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं॥

यहाँ भी भक्त (सूर) और भगवान की होड़ में विकल्प अलङ्कार है! या तो अनंत पापों के रहते हुए भी भक्त का उद्धार करना होगा या 'पतित-उधारन' इस विशेषण से भगवान को वञ्चित हो जाना पड़ेगा। बड़ा सुंदर विकल्प है!

कहँ अरसे किहि काज, उर लगी बिरह की लाइ।
सखि! देखिय किहिं बिधि मिलहिं, पिय आइ कि जिय जाइ॥

प्रिय से मिलना है; देखना है यह समागम कैसे होता है। दोनों ही संभव हैं—या तो प्रियतम आ जाय या देर हुई तो प्राण ही उसके पास चले जायँ! यहाँ प्रिय के आगमन और प्राण के गमन दोनों में विकल्प है।

झाला माला मुगलदीप का मतवाला परवाना है।
दीपक इसे बुझा देना है या जलकर मर जाना है। हल्दीघाटी

दीपक बुझा देने या जलकर मर जाने में विकल्प है।

दोषी हूँ पर प्रेम-अन्ध हूँ, या तो मुझे क्षमा दो।
या यह लो तलवार खून के बदले खून बहादो। नूर०

शेर अफगन की हत्या कराने के बाद मेहरुन्निसा (नूरजहाँ) से जहाँगीर की उक्ति है—या तो पति की हत्या के लिये क्षमा करो या यह तलवार लेकर मेरा भी खून कर दो। यहाँ भी क्षमा और खून करने में विकल्प है।

समुच्चय

यदि किसी कार्य की सिद्धि के लिये एक साधक के रहते हुए भी साधकान्तर का कथन किया जाय तो समुच्चय अलंकार होता है।†

समुच्चय का अर्थ है समूह। यहाँ 'खलेकपोतिकान्याय' से एक साधक के बदले साधकों का समूह जुट जाता है। जिस तरह खलिहान में एक कबूतर के उतरते छोटे-बड़े सभी कबूतर उतर पड़ते हैं, उसी तरह यहाँ एक साधक के साथ अनेक साधक जुट जाते हैं। वस्तुतः समुच्चय शब्द समूहमात्र का वाचक है पर यहाँ वह अर्थविशेष में रूढ़-सा हो गया है। कहीं तो ये साधक केवल सत् (उत्तम) होते हैं, कहीं असत् (अनुत्तम) और कहीं सत् असत् दोनों एकत्र मिले हुए। इस तरह समुच्चय की स्थिति तीन प्रकार से सम्भव है—सद्योग में, असद्योग में अथवा सदसद्योग में।

---

† समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके।
खलेकपोतिकान्यायात् तत्करः स्यात् परोऽपि चेत्।
गुणौ क्रिये वा युगपद् स्यातां यद् वा गुणक्रिये। सा० द०

सद्‌योग में :—

भृकुटी मटकनि, पीत पट चटक, लटकती चाल।
चख चख चितवनि, चोरि चित लियो बिहारी लाल॥

कृष्ण की भौंहों की मटक, पीताम्बर की चमक, इठलाती चाल और चंचल नेत्रों का कटाक्ष इनमें से एक-एक ही गोपी के चित्त को चुराने के लिये पर्याप्त है पर यहाँ तो चित्त चुराने रूप कार्य के लिये एक साधक के बदले चार साधकों का समुच्चय उपस्थित है, अतः समुच्चय अलंकार है। इस उदाहरण में सभी साधक उत्तम हैं इसलिये सद्‌योग है।

तात-बचन, पुनि मातु हित, भाइ भरत अस राउ।
मोकहँ दरस तुम्हार प्रभु! सब मम पुन्य प्रभाउ॥

पिता (दशरथ) की आज्ञा, माता (कैकेयी) की इच्छा-पूर्ति, भरत जैसे भाई की राज्यप्राप्ति और मुनियों के दर्शन का सौभाग्यलाभ, इनमें एक-एक ही राम के वनगमन का पूर्ण साधक था पर यहाँ तो चारों का समुच्चय है। यहाँ भी सद्‌योग है।

लोक रीति है, हुक्म खुदा है, अनुमति जान हमारी।
हिन्द देश की सम्राज्ञी बन पुरवो साधें सारी॥ नूर०

नूरजहाँ को जहाँगीर से विवाह कर लेने की राय उसकी माता दे रही है—एक तो संसार की यह रीति है, फिर ईश्वर की आज्ञा और मेरी अनुमति, अतः तू विवाह कर ले। यहाँ विवाह के लिये तीन कारणों का एक साथ उल्लेख है।

असद्‌योग में :—

अहंकार, अविचारिता, दुर्वच, वैर, विवाद।
अनरथ के ये मूल हैं, इसलिये संतत याद॥

यहाँ अहङ्कारादि में प्रत्येक पृथक्-पृथक् भी अनर्थ का मूल (साधक) है, जहाँ पाँचों रहें, वहाँ का क्या पूछना! अहंकारादि के अनुत्तम होने से यह असद्‌योग का उदाहरण है।

> ग्रह-गृहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
> ताहि पिआइय बारुनी, कहो कौन उपचार॥

ग्रह-गृहीत आदि में एक-एक ही दुश्चिकित्स्य है, जहाँ चारों का समुदाय जुटा हो वहाँ की बात तो कल्पनातीत है। यहाँ भी असद्‌योग है।

सदसद्‌योग में :—

> यौवन चंचल, धन अथिर, जीवन कालग्रस्त।
> मन के काँटे हो रहे मिल ये सदा समस्त।*

यहाँ यौवन आदि विशेष्य स्वतः शोभन होते हुए भी चंचल आदि विशेषणों से अशोभन बन रहे हैं, अतः इस उदाहरण में सत्-असत् का समुच्चय है।

द्वितीय समुच्चय

यदि अनेक गुण या अनेक क्रियाएँ अथवा गुण और क्रियाएँ एक साथ वर्णित हों तो भी समुच्चय अलंकार होता है।

गुण-समुच्चय—

> पावस के आवत भये, स्याम-मलिन नभ-थान।
> रक्त भये पथिकन हृदय, पीत कपोल तियान॥

यहाँ वर्षा के आगमन के समय में श्याम, रक्त और पीत गुणों का एकत्र वर्णन होने से गुण-समुच्चय है।

क्रिया-समच्चय—

हँसि-हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति।
बलकि-बलकि बोलति बचन, ललकि-ललकि लपटाति॥

यहाँ हेरति, उमदाति, बोलति और लपटाति इन अनेक क्रियाओं का समुच्चय है।

गुण-क्रिया-समुच्चय :—

इत पंकज-दल-छबि सने, कोप-कलुस तो नैन।
उत सत्रुन की भीड़ पर, बिपति परी दुख दैन॥

यहाँ कलुष गुण और विपत्ति पड़ना क्रिया का एक साथ वर्णन होने से गुण-क्रिया-समुच्चय है।

समाधि

जहाँ कोई कार्य साधनान्तर के आकस्मिक योग से सरलता से सिद्ध हो जाय वहाँ समाधि अलङ्कार होता है।†

समाधि का अर्थ है—अच्छी तरह (सुगमता से) किया जाना। इसमें कोई कार्य स्वभावतः अपने नियत कारण से होता रहता है पर अकस्मात् किसी दूसरे कारण के उपस्थित हो जाने से और भी सरलता से सिद्ध हो जाता है। उसकी सिद्धि तो प्रधान कारण से भी हो ही जाती पर दूसरा कारण गौण रूप से सहायता देकर उसे अधिक सुकर बना देता है। यह दूसरा कारण अप्रत्याशित रूप से—अकस्मात् आ पड़ता है।

हिये और सी ह्वै गई, टरी अवधि के नाम।
दूजे करि डारी खरी, बौरी बौरे आम॥

† समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद् वस्त्वन्तरागमः। सा० द०

नायिका (प्रोषित) प्रियतम के आने की अवधि ही टलने से बावली हो रही थी। इसी बीच वसंत भी आ गया और आम की मंजरियों ने उसे और भी बावली बना दिया। नायिका के बावली होने में प्रिय की अवधि का टलना प्रधान कारण है और वसंत के आगमन (गौण कारण) से वह और भी सुगमता से सिद्ध हो जाता है, अतः समाधि अलङ्कार है।

मान मिटावन हित लगे, रस सींचन घनस्याम।
लागे त्यों चहुँधा उनइ, रस सींचन घनस्याम॥

राधा का मान दूर करने के लिये कृष्ण का रस सींचना (मीठी-मीठी बातों से चाटुकारी करना) समर्थ कारण है ही, तबतक अकस्मात् मेघों का पानी बरसाने लगना—एक दूसरा कारण उपस्थित होकर (वर्षा उद्दीपक है)—मान के दूर करने में और भी सहायक हो जाता है।

राम रहे थे सोच युक्ति रावण के उन्मूलन की,
तब तक शूर्पणखा पहुँची उस रम्य कुटी में वन की। ॐ

रावण को उन्मूलित करना राम को यों ही इष्ट था तबतक अप्रत्याशित रूप से शूर्पणखा ने आकर उसमें और भी सहायता दे दी (शूर्पणखा के आ जाने से जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी, उसने रावण के निधन का पथ और भी प्रशस्त कर दिया)।

प्रत्यनीक

किसी शत्रु का तिरस्कार करने में असमर्थ होकर यदि उसके किसी संबन्धी का तिरस्कार किया जाय जिससे (शत्रु का ही उत्कर्ष प्रकट हो) तो प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। †

---

† प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्। रूय्यक

प्रत्यनीक (प्रति + अनीक) का अर्थ है शत्रु का प्रतिनिधि अर्थात् संबन्धी ; 'प्रति' कहते हैं प्रतिनिधि को और 'अनीक' सेना को। यहाँ 'अनीक' का लक्षणा से 'शत्रु' अर्थ लिया जायगा। यहाँ शत्रु का तिरस्कार करना संभव न होने से उसके संबन्धी का तिरस्कार किया जाता है। इसमें वास्तविक शत्रुता या तिरस्कार की भावना न होकर कवि-कल्पना से उद्भूत अवास्तव किंतु चमत्कारपूर्ण तिरस्कार का वर्णन रहना चाहिये।

शत्रु के संबन्धी के साथ या तो (१) साक्षात् संबन्ध हो सकता है या (२) परम्परा-संबन्ध।

मारि मारि दृग-बान, जीत्यो कामहिं स्याम तुम।
तातें वह दुख मान, तव राधा को देत दुख॥

कृष्ण के कटाक्ष से काम पराजित है, अतः वह कृष्ण से प्रतिशोध लेना चाहता है पर उसमें असमर्थ होकर वह कृष्ण की सम्बन्धिनी राधा को व्यथित कर रहा है। यहाँ राधा से कृष्ण का साक्षात् सम्बन्ध है।

तो मुख छबि सों हारि जग, भयो कलंक समेत।
सरद-इंदु अरबिंदमुखि ! अरबिंदनि दुख देत।

चंद्रमा को देखकर कमल मुद्रित हो जाते हैं, यह कविसमय है। इसी आधार पर कवि ने यहाँ प्रत्यनीक के सहारे यह सुन्दर वर्णन किया है। नायिका के मुख-कमल से परास्त होकर उसका कुछ बिगाड़ने में असमर्थ हो चंद्रमा नायिका के साथ परम्परा (सादृश्य)-सम्बन्ध रखनेवाले कमलों को कष्ट दे रहा है।

निज पदगति से कर रही द्विरद-दर्प तू चूर,
पदसम उत्पल-दल अतः रौंद रहा वह क्रूर ॥ *

यहाँ किसी मन्थरगामिनी नायिका की चरणगति से तिरस्कृत होकर गज उसके चरणों के सदृश कमलों को अपने पैरों से कुचल-कुचलकर प्रतिशोध लेता है।

केवल नाम-संबन्ध से भी प्रत्यनीक सिद्ध हो जाता है :—

तेज मंद रवि ने कियो, बस न चल्यो तेहि संग।
दुहुन नाम एकै समुझि, जारत दीप पतंग ॥

सूर्य दीप का प्रकाश मंद कर देता है पर उससे बदला लेना दीप के लिये संभव नहीं, इसलिये वह नाम-सादृश्य से (पतंग सूर्य को भी कहते हैं) पतंग (कीड़े) को जलाकर अपने को संतुष्ट कर लेता है।

इन सभी स्थलों में यह स्पष्ट है कि जिसके संबन्धी का तिरस्कार किया जाता है, उससे उस शत्रु का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है—उसके सौंदर्य को प्रकारान्तर से चमत्कृत रूप में कहना ही कवि की इस कल्पना-जनित शत्रुता का लक्ष्य है।

एक बात और। प्रत्यनीक के मूल में सर्वत्र प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा वर्त्तमान रहती है। यदि तिरस्कार वाले अंश को प्रधानता न दें तो प्रत्यनीक के उदाहरण आसानी से गम्या हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण बन जा सकते हैं। इसीलिये पंडितराज जगन्नाथ ने इसे हेतूत्प्रेक्षा में ही अंतर्भावित कर रखा है। पर हेतूत्प्रेक्षा की अपेक्षा तिरस्कारवाला भाव स्पष्ट रहने से इसमें एक दूसरा ही चमत्कार रहता है और चमत्कार ही अलङ्कार है, इसलिये इसे पृथक् अलङ्कार मानना असंगत नहीं है।

अर्थापत्ति

दण्डापूपिकान्याय से अन्य अर्थ का आक्षेप अर्थापत्ति अलंकार है। †

अर्थापत्ति का अर्थ है अर्थ का आक्षेप (आपत्ति)— आ पड़ना—उक्त के आधार पर अनुक्त की अनायास कल्पना। अर्थापत्ति में प्रायः दण्डापूपिकान्याय का उल्लेख किया जाता है। मान लीजिये कि किसी लोहे के छड़ में पूआ खोंसकर रख दिया गया। दूसरे दिन पूआ माँगने पर उसे रखनेवाले ने कहा कि पूए को कौन कहे, चूहा वह छड़ भी खा गया जिसमें पूआ खोंसकर रखा था। तो इस प्रकार लोहे के छड़ को खाने से पूए का खा लेना अनायास सिद्ध हो जाता है। लोहे जैसा कठोर, अखाद्य पदार्थ जो खा जाय उसके लिए पूए जैसे सुकोमल और स्वादु पदार्थ का खा जाना स्वयंसिद्ध है। इसी को दण्डापूपिकान्याय कहते हैं। दण्ड का अर्थ है डण्डा (छड़) और अपूपिका का पूआ, डण्डे और पूए का न्याय (ढंग)। एक दूसरा उदाहरण लीजिये—कोई कहता है "मोहन दिन को नहीं खाता फिर भी खूब मोटा-ताजा है।" इससे अनायास यह बात निकलती है कि दिन को नहीं तो रात को भरपूर खाता है। यहाँ कहा गया है दिन को नहीं खाना फिर भी मोटा रहना, उससे रात के भरपूर खाने का आक्षेप किया जाता है क्योंकि मोटा-ताजा जो है। रात को भी नहीं खाने से तो चीं बोल देना होगा, मोटे-ताजे की तो बात ही दूर है। तो यहाँ भी उक्त के आधार अनुक्त की कल्पना की जाती है।

---

† दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरुच्यते। सा० द०

अर्थापत्ति वस्तुतः प्रमाण के रूप में दर्शनशास्त्र का विषय है पर अनुमान आदि की तरह चमत्कार-विशिष्ट रहने से अलंकार में भी इसे स्थान मिल गया। संसार में कहीं की कोई वस्तु क्यों न हो, यदि उसमें रमणीयता या चमत्कार रहा तो उसे अलंकार-शास्त्र ने अपना लिया। क्या न्याय है! रूखापन दूसरों के सिर और सरसता में पहला हिस्सा! अरमणीयता दूसरों के मत्थे और चमत्कार पर टूट पड़े!

अथवा एक परस में ही जब
तरस रही मैं इतनी,
होगी विकल न जाने तब वह
सदा - संगिनी कितनी?—गुप्त

कुब्जा की उक्ति है—कृष्ण के एक ही स्पर्श के बाद उनसे वियुक्त होकर जब मुझे इतनी बेकली है तो उनसे बिछुड़कर सदा साथ रहनेवाली बेचारी राधा की कैसी दशा होगी! यहाँ एक स्पर्श से ही जब तरस की पराकाष्ठा है तो वियोग में वर्षों तक की संगिनी की अवस्था का बिना कहे ही अनुमान किया जा सकता है।

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको,
जनकर जननी भी जान न पायी जिसको।—गुप्त

जिसके अंतर का पता जब जननेवाली माता ही को नहीं मिला तो और किसी को नहीं मिलेगा यह अर्थ स्वतः आक्षिप्त होता है।

कामिनि जुगल उरोज ये, निकसे निज हिय भेद।
औरन हिय भेदन करत, इनहिं कहाँ चित खेद॥

नायिका के ये उरोज अपना हृदय आप ही भेद कर

निकले तब भला दूसरों का कलेजा काढ़ने में इन्हें क्या मोह! जो अपना हृदय स्वयं भेदन कर सकता है, उसे दूसरे का हृदय बेधने में जरा भी संकोच नहीं होगा, यह तो बिना कहे सिद्ध है।

हिंदी के प्राय: सभी आलङ्कारिकों ने अर्थापत्ति को काव्यार्थापत्ति नाम दिया है जो व्यर्थ का आडम्बर है। यदि यह कहें कि दार्शनिक प्रमाणरूप अर्थापत्ति से उसका अंतर स्पष्ट करने के लिये उसके पहले काव्य शब्द जोड़ दिया गया है, तो मैं पूछता हूँ कि अनुमान का क्षेत्र भी तो दर्शन ही है, फिर उसका ग्रहण कर आपने उसे भी काव्यानुमान क्यों नहीं कहा? यदि बिना काव्य शब्द के पूर्व-प्रयोग के अनुमान अलङ्कारों की श्रेणी में बैठने का अधिकारी बन सकता है तो बेचारी अर्थापत्ति ने क्या अपराध किया कि उसके आगे 'काव्य' की एक भारी-भड़कम सी नकेल डाल दी जाय। अत: अर्थापत्ति कहना ही उचित है, काव्यार्थापत्ति नहीं।

काव्यलिङ्ग

यदि वाक्यार्थ अथवा पदार्थ किसी कथन का कारण हो तो काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।†

लिङ्ग का अर्थ है कारण, अत: काव्यलिङ्ग का अर्थ होगा काव्य का कारण अर्थात् ऐसा कारण जिसका काव्य में उपयोग होता हो। बात यह है कि कारण-कार्य के सम्बन्ध की विवेचना तर्क-शास्त्र का विषय है, उससे काव्य का कोई प्रयोजन नहीं। पर यदि उसी कारण-कार्य-सम्बन्ध में चमत्कार

---

† हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते। सा० द०

का समावेश किया जा सके जिससे उक्ति में विलक्षणता और रमणीयता आ जाय तो उसे निस्सन्देह अलंकारों की कोटि में रख लेंगे। काव्य में विभावना, विशेषोक्ति, असंगति आदि अलंकार इसी कारण-कार्य-संबंध पर आश्रित हैं। 'अनुमान' तक, जो केवल तर्क-शास्त्र से सम्बद्ध है, अलंकारों में केवल चमत्कारान्वित होने से ही परिगणित होता है। काव्यलिङ्ग में किसी वाक्य या पद का अर्थ किसी कथनविशेष का कारण बनकर आता है। इसमें कारण-कार्य के सम्बन्ध के वाचक—क्योंकि, इसलिए, चूँकि आदि—शब्दों की कल्पना करके अर्थ किया जाता है। कहीं तो पूरा वाक्यार्थ ही कारण के रूप में आता है और कहीं केवल पदार्थों से ही काम चल जाता है। इसी आधार पर इसके वाक्यार्थगत और पदार्थगत दो भेद होते हैं।

वाक्यार्थगत काव्यलिंग :—

> मरन भलो बरु बिरह ते, यह बिचार चित जोय।
> मरन मिटै दुख एक को, बिरह दुहूँ दुख होय॥

प्रथम चरण में मरण विरह से अच्छा कहा गया है, अतः यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि 'क्यों', 'कैसे' और इस क्यों का उत्तर मिलता है उत्तरार्द्ध से—विरह में दोनों को दुःख होता है पर मरण में कम-से-कम एक (मरनेवाले) का दुःख दूर हो जाता है। चूँकि विरह में दोनों को दुःख होता है और मरण में एक का दुःख तो दूर हो जाता है इसीलिये मरना विरह की अपेक्षा अच्छा है। तो यहाँ मरना विरह से अच्छा है, यह कथन कारण-सापेक्ष है; बिना कोई कारण दिये अर्थ ठीक बैठता नहीं। यहाँ सारे उत्तरार्द्ध के आधार पर ही पूर्वार्द्ध संगत होता है, उत्तरार्द्ध रूप वाक्य का अर्थ प्रथम

चरण के कारण के रूप में कहा गया है अतः वाक्यार्थ-निष्पन्न काव्यलिङ्ग है।

कनक-कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात नर, यह पाये बौराय॥

बड़ी विचित्र बात है—धतूरे से नशा होते तो देखा गया है पर सोने से नशा होना न देखा गया न सुना; वह भी थोड़ा नहीं धतूरे के नशे से सौगुना अधिक! जब तक इस कथन के लिये कोई कारण न दिया जाय तब तक इस प्रकार की ऊटपटाँग बात को कोई मान कैसे सकता है? वही कारण उत्तरार्द्ध में उपस्थित है—धतूरे की अपेक्षा सोने को सौगुना अधिक मादक क्यों न कहा जाय जब धतूरा तो खाने पर नशा करता है पर सोने (सम्पत्ति) को पाने मात्र से मनुष्य बावला हो जाता है। किसी वस्तु को पाकर ही कोई मत्त हो और किसी को खाकर तो इसकी अपेक्षा पाकर ही बावला बनानेवाली अवश्य ही अधिक शक्तिशालिनी कही जायगी। इसलिये जिस सोने को पाकर ही लोग उन्मत्त हो जाते हैं वह खाने पर नशा करनेवाले धतूरे से सौगुना क्या, हजार गुना अधिक मादक कहा जाय तो भी अनुचित नहीं। यहाँ सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध का अर्थ पूर्वार्द्धगत अर्थ की निष्पत्ति का कारण है।

स्याम-गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

राम-लक्ष्मण के सौन्दर्य-वर्णन की असमर्थता का कारण वाणी का नयन-हीन और नयन का अवाक् होना कहा गया है। जिन आँखों ने सौन्दर्य देखा वे बोल नहीं सकतीं और जिस वाणी को बोलने की शक्ति है उसने देखा नहीं, ऐसी दशा में सौन्दर्य का वर्णन हो तो कैसे हो?

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं, हे राम! चरणरज दो मुझे।
जड़ भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे,
उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे।—गुप्त

यहाँ स्वर्ण की अपेक्षा पदरज माँगने में तृतीय चरण कारण है। जिस चरणरज से पत्थर की मूर्ति (अहल्या) भी सचेतन हो उठी वह रज स्वर्ण से कहीं अधिक अभ्यर्हित है। भला उसके बदले सोना कौन ले? इस प्रकार द्वितीय चरण के अर्थ की उपपत्ति के लिये तृतीय चरण का अर्थ कारण बनता है।

और भोले प्रेम! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
झूमते गज से विचरते हो वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।—पंत

यहाँ प्रेम को वेदना के हाथों से बना कहने में चतुर्थ चरण कारण बनकर आया है। जहाँ प्रेम है वहाँ आह, उन्माद और उत्ताप है, अतः वेदना के ही द्वारा प्रेम का निर्माण हुआ है।

इन उदाहरणों में वाक्यार्थगत काव्यलिङ्ग है। कहीं एक या दो पदों में ही कारणता निविष्ट रहती है; वहाँ पदार्थगत काव्यलिङ्ग होता है।

पदार्थगत काव्यलिंग :—

हृदय में घिरे विरह-तम को मिटावेगा उसका मुखचंद्र।

मुखचन्द्र यह एक पद (समस्त होने के कारण एकत्व हृदय में छाये हुए विरह रूप अंधकार को दूर करेगा, ऐसा कहने से यहाँ पदार्थमूलक काव्यलिंग है।

उसकी लघुता पर न दो ध्यान; वह हा! कितना है दीन! ❀

यहाँ लघुता पर ध्यान नहीं देने में 'दीन' होना कारण कहा गया है। दीनों की लघुता ही तो नैसर्गिक है। यहाँ 'दीन' इस एक पद में ही कारणता वर्तमान है, अतः पदार्थ-मूलक काव्यलिंग है।

अर्थान्तरन्यास

यदि सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन हो तो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है।†

अर्थान्तरन्यास का अर्थ है अर्थान्तर (दूसरे अर्थ) का न्यास (रखना), अर्थात् जहाँ एक बात के समर्थन के लिये दूसरी बात कहें वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है। सामान्य का अर्थ है अधिकदेशव्यापी—जिसका क्षेत्र विस्तृत हो—जो बहुतों पर लागू हो; विशेष का अर्थ है अल्पदेशव्यापी—जिसका क्षेत्र सीमित हो—जो थोड़े पर ही लागू हो। जैसे वृक्ष सामान्य शब्द है और आम विशेष क्योंकि वृक्ष कहने से सभी वृक्षों—आम, जामुन कटहल, इमली आदि—का बोध होता है—वह अधिक देश-व्यापी है-उसके अर्थ का क्षेत्र व्यापक है पर आम विशेष है, इसलिये कि वह एक ही वृक्ष का बोध करा सकता है,वृक्ष की अपेक्षा वह अल्पदेशव्यापी है—उसका क्षेत्र सीमित है। यह सामान्य-विशेष-भाव आपेक्षिक है। कोई आवश्यक नहीं कि जो सामान्य है वह सदा सामान्य और जो विशेष है वह सदा विशेष ही बना रहे। सामान्य-विशेषभाव दो वस्तुओं के आपेक्षिक संबन्ध पर निर्भर करता है—कभी सामान्य ही

† सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत् समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः। —जगन्नाथ

अपने से अधिकदेशव्यापी के सामने विशेष बन जा सकता है और विशेष अपने से अल्पदेशव्यापी के सामने सामान्य। जैसे ऊपर के उदाहरण में हमने देखा है कि 'आम' विशेष है पर उसे भी सामान्य मानकर दूसरे विशेषों की कल्पना की जा सकती है—आम सामान्य और मालदह, सिपिया, जर्दा आदि विशेष, क्योंकि ये सारे भेद आम के ही हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामान्य-विशेषभाव कोई नियत पदार्थ नहीं—वह वस्तुओं के पारस्परिक संबन्ध के अनुसार परिवर्त्तनीय है।

इस अलङ्कार का मूल आधार यह सामान्य-विशेषभाव ही है। कहीं तो सामान्य बात कहकर उसकी पुष्टि के लिये विशेष बात कहते हैं और कहीं विशेष ही कहकर सामान्य से उसकी पुष्टि—समर्थन—करते हैं। एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि सामान्य से सामान्य के अथवा विशेष से विशेष के समर्थन में यह अलङ्कार नहीं हो सकता। यह सामान्य-विशेष का परस्पर समर्थन साधर्म्य या वैधर्म्य उभयथा संभव है। यदि विधि से विधि का अथवा निषेध से निषेध का समर्थन हो तो उसे साधर्म्य कहते हैं पर यदि विधि से निषेध का या निषेध से विधि का समर्थन हो तो उसे वैधर्म्य कहते हैं। इस प्रकार इसके चार रूप होते हैं :—

(१) सामान्य का विशेष से साधर्म्य द्वारा समर्थन।
(२) ,, ,, ,, ,, वैधर्म्य ,, ,, ।
(३) विशेष का सामान्य से साधर्म्य ,, ,, ।
(४) ,, ,, ,, ,, वैधर्म्य ,, ,, ।

सामान्य का विशेष से साधर्म्य द्वारा समर्थन :—

सबै सोहायेई लगैं, बसत सोहाये ठाम।
गोरे मुख बेंदी लसै, अरुन, पीत, सित, स्याम॥

अच्छे स्थान में रहने से सभी वस्तुएँ अच्छी लगती हैं, यह पूर्वार्द्ध गत अर्थ सामान्य है। गोरे मुख (अच्छे स्थान) पर लाल, पीली, उजली, काली, कोई भी बिन्दी सुंदर ही लगती है इस उत्तरार्द्ध गत विशेष से उसका समर्थन किया गया है।

जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥

यहाँ पूर्वार्द्ध गत सामान्य अर्थ है—कुसंगति अच्छी प्रकृति-वालों का कुछ नहीं बिगाड़ सकती और उत्तरार्द्ध के विशेष अर्थ से उसका समर्थन है—सर्प लिपटे रहते हैं पर चंदन में विष नहीं व्याप्त होता।

निर्ममता भी है जीवन में
हो वासंती अनिल प्रवाहित
करता जिनको दिन दिन विकसित
उन्हीं दलों को शिशिर-समीरण तोड़ गिराता है दो क्षण में। बच्चन

—'जीवन में निर्ममता भी है' यह सामान्य अर्थ, वासन्ती अनिल द्वारा विकसित किये गये पत्तों को शिशिर के पवन द्वारा तोड़ गिराया जाना रूप विशेष से, समर्थित किया गया है।

सामान्य का विशेष से वैधर्म्य द्वारा समर्थन :—

कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नलबल जल ऊंचो चढ़ै, अंत नीच को नीच॥

पूर्वार्द्ध सामान्य वाक्य है जिसका उत्तरार्द्ध के विशेष वाक्य से समर्थन है। पूर्वार्द्ध निषेधात्मक है, 'प्रकृति में अंतर नहीं पड़ता' और उत्तरार्द्ध विध्यात्मक है, नलबल से ऊंचा चढ़ाने पर भी जल नीचे ही रहता है। अतः यहाँ वैधर्म्य से समर्थन है।

विशेष का सामान्य से साधर्म्य द्वारा समर्थन :—

तुव दत माला मलिनहू, धरति हरष जुत बाल ।
बसत सदा गुन प्रेम में, नहीं बस्तु में लाल ॥

यहाँ पूर्वार्द्ध विशेष है जिसका समर्थन उत्तरार्द्ध सामान्य से हुआ है।

उड़ाती है तू घर में कीच।
नीच ही होते हैं बस नीच। साकेत

प्रथम चरण मन्थरा को इंगित कर कहा गया है जो विशेष है और द्वितीय चरण से उसका समर्थन किया गया है जो सामान्यरूप है।

सन्तुष्ट मुझे तुम देख रही हो वन में,
सुख धन धरती में नहीं, किंतु निज मन में। साकेत

यहाँ पूर्वार्द्ध विशेष का उत्तरार्द्ध सामान्य से समर्थन है।

विशेष का सामान्य से वैधर्म्य द्वारा समर्थन :—

भरत की माँ डरी सुन भूपवाणी,
कहीं वह राम लक्ष्मण ने प्रमाणी !
पतित क्या उन्नतों के भाव जानें,
उन्हें वे आप ही में क्यों न सानें ! साकेत

यहाँ भी उत्तरार्द्ध सामान्य से पूर्वार्द्ध विशेष का समर्थन है। पूर्वार्द्ध विधिरूप है और उत्तरार्द्ध निषेधरूप इसलिये वैधर्म्य है।

विश्वनाथ सामान्य-विशेष के साथ कार्य-कारण के परस्पर समर्थन में भी अर्थान्तरन्यास मानते हैं जो काव्यलिंग से संकीर्ण है। इसके लिये उनका कहना है कि कारण तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। इनमें

ज्ञापक अनुमान का, निष्पादक काव्यलिंग का और समर्थक अर्थान्तरन्यास का विषय है।

पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पय दीक्षित आदि कार्य-कारण के समर्थन में काव्यलिङ्ग ही मानते हैं और केवल सामान्य-विशेष के परस्पर समर्थन में अर्थान्तरन्यास। वस्तुतः यह उचित भी है क्योंकि कार्य-कारणभाव में अर्थान्तरन्यास मानने पर काव्यलिङ्ग से उसका विषय-भेद दिखाना बहुत कठिन है।

हेतु

जहाँ कारण और कार्य में अभेद (एकात्मता) बताया जाय वहाँ हेतु अलंकार होता है। †

हेतु का अर्थ है कारण। कार्य और कारण में जन्य-जनकभाव सम्बन्ध रहता है—कार्य जन्य है और कारण उसका जनक (उत्पादक)। दोनों दो पदार्थ हैं। यदि उनके भेद को मिटाकर दोनों का अभिन्न रूप से वर्णन हो तो हेतु अलंकार है।

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति बिदारनहार।

यहाँ 'संपति' जन्य है और 'जदुपति' उसके जनक (उत्पादक), कृष्ण ही संपत्ति देते हैं—उनकी कृपा के बिना कुछ नहीं हो सकता। पर दोनों के भेद को मिटाकर यदुपति को ही संपत्ति कह दिया गया है, अतः हेतु अलंकार है।

---

† हेतुस्त्वभेदकथनं कार्यकारणयोर्मतः।

मोहि परम पद मुक्ति सब, सो पदरज घनस्याम।
तीन लोक को जीतिबो, मोहिं बसिबो ब्रज ग्राम॥

परमपद अथवा मुक्ति (कार्य) का कारण कृष्ण का पदरज (चरणरेणु) है—भगवान् के चरणों की धूलि के स्पर्श से परम पद की प्राप्ति होती है पर यहाँ पदरज को ही परम पद और मुक्ति कह दिया गया है—कारण-कार्य के पृथक्त्व को मिटाकर दोनों का एकीकरण है। उसी प्रकार उत्तरार्द्ध में भी ब्रज में निवास करने (कारण) से तीनों लोकों की विजय (कार्य) होती है पर यहाँ भी दोनों को अभिन्न (एक) कर दिया गया है, अतः हेतु अलंकार है।

तरुणाई का अनुपम विलास,
सुषमा का मंजुल-मृदुल हास,
धरणी-मंडल का अलंकरण,
युव-जन-मन का वह वशीकरण। *

यहाँ विलास आदि का कारण नायिका विलास रूप से उक्त है, अतः कारण-कार्य में अभेद रहने से हेतु अलंकार है।

नैननि को आनन्द है, जिय को जीवन जानि।
प्रगट दरप कंदर्प को, तेरी मृदु मुसकानि।

इस उदाहरण में नायिका की मुस्कान, जो नयनों के आनन्द रूप कार्य का कारण है, आनन्द ही कह दी गयी है। वैसे ही शेष दोनों चरणों में भी कार्य-कारणभाव तिरोहित कर अभेद-प्रतिपादन है। मुस्कान कंदर्प (कामदेव) के दर्प (घमंड) का कारण है (इसलिये कि उस नायिका की मुस्कान से कामदेव लोगों को अपने वश में करता है अर्थात् उस मुस्कान को देखते ही लोग काम से पीड़ित हो जाते हैं) पर यहाँ दर्प

के कारण मुस्कान और दर्प (कार्य) को एकरूप कहा गया है।

> बनी हलाहल वही वंश का, लपटें लाख-भवन की,
> द्यूत-कपट शकुनी का, वन-यातना पांडुनन्दन की। कुरुक्षेत्र

वही (दुर्योधन के अन्तर की दुरग्नि) वंश का हलाहल, लाक्षाभवन की लपट आदि बनी। वस्तुतः वह दुरग्नि उनका कारण है और वे कार्य, पर कारण-कार्य का अभेद कर दिया गया है।

कुछ लोग कार्य और कारण की केवल एकत्रस्थिति—दोनों का साथ वर्णन-मात्र रहने—में भी हेतु अलंकार मानते हैं पर उसमें चमत्कार अधिक नहीं होता।

> उयो अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक सुखदाता।

यहाँ अरुण (सूर्य) का उगना कारण और कमल-चक्रवाक का सुख (कार्य) दोनों साथ वर्णित हैं—सूर्य के उदय होने पर ही कमल का विकास और चकवा-चकई का मिलन होता है, अतः दोनों में कार्य कारण-सम्बन्ध की कल्पना है।

अनुमान

साधन के द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमान अलङ्कार कहते हैं। †

अनुमान का अर्थ प्रसिद्ध है। अनुमान तो वस्तुतः तर्कशास्त्र का विषय है जहाँ प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष (परोक्ष) की कल्पना करते हैं। जैसे दूर उठते हुए धूएँ को देखकर

---

† अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्। सा० द०

यह समझते हैं कि वहाँ आग है। हम आग देखते नहीं, देखते केवल धूआँ हैं पर धूआँ देखकर ही हम यह जान लेते हैं कि वहाँ आग भी है। हमारे इस प्रकार के ज्ञान का कारण है धूआँ और आग के अव्यभिचरित सम्बन्ध का ज्ञान। हम देखते हैं कि जहाँ धूआँ रहता है वहाँ आग भी अवश्य रहती है और इस बात को सहस्रशः प्रत्यक्ष करने के बाद यदि कभी आग नहीं भी देखते हैं तो केवल धूआँ देखकर ही हम वहाँ आग होने का अनुमान कर लेते हैं। धूआँ और आग के इस नित्य—अव्यभिचरित संबंध को 'व्याप्ति' कहते हैं। अनुमान का सबसे बड़ा आधार यह 'व्याप्ति' अर्थात् साधन और साध्य का नित्य संबंध ही है। 'साधन' उसे कहते हैं, जिसके द्वारा अनुमान किया जाता है जैसे धूआँ और 'साध्य' उसे कहते हैं जिसका अनुमान किया जाता है जैसे आग। धूआँ देखकर ही आग का अनुमान होता है अतः धूआँ साधन है और आग साध्य। अनुमान तर्कशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण और जटिल विषय है। उससे हमारा प्रस्तुत में कोई प्रयोजन नहीं। पर यदि उसी अनुमान का चमत्कारपूर्ण ढंग से उल्लेख हो—यदि उसमें तर्कशास्त्र की शुष्कता के स्थान पर रमणीयता का सन्निवेश हो जाय तो वह अलङ्कार की श्रेणी में बैठने का अधिकारी बन जाता है।

मोहि करत कत बावरी, किये दुराव दुरै न।
कहे देत रँग राति के, रँग निचुरत से नैन॥

यहाँ लाल आँखें देखकर रात की रतिकेलि का अनुमान हो रहा है। 'रँग निचुरत से नैन' साधन हैं जिनके द्वारा 'रात्रि के रँग' साध्य का अनुमान होता है। चमत्कार तो स्पष्ट ही है।

पूछे क्यों रूखी परति, सगिबगि रही सनेह।
मनमोहन छबि-पर कटी, कहे कँट्यानी[1] देह॥

रोमाञ्चित शरीर (साधन) देखकर नायिका के कृष्ण पर अनुरक्त होने (साध्य) का अनुमान किया जाता है।

मृगनैनी दृग की फरक, उर उछाह, तन फूल।
बिन ही पिय आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल।

यहाँ आँख के फड़कने, हृदय की उमंग और शरीर के उल्लास से प्रियतम के भावी आगमन का अनुमान किया गया है। शुभ शकुन का फल भी शुभ ही होता है। एक प्रोषित-पतिका के लिये पति के आगमन से बढ़कर भला और क्या शुभ होगा!

तद्गुण

अपने गुण को छोड़कर उत्कृष्ट गुणवाली (समीपवर्त्ती) दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करना तद्गुण अलङ्कार है।†

तद्गुण का अर्थ है उसका (दूसरे का) गुण। इसमें कोई वस्तु अपना गुण छोड़कर अपने से उत्कृष्ट वस्तु का गुण ग्रहण करती है। इसमें अपना गुण छोड़कर दूसरे का गुण ग्रहण करना आवश्यक है।

हौं रीझि लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होत दुति, मिलत मालती माल॥

---

१ रोमांचित।

† तद्गुणः स्वगुणत्यागाद् अत्युत्कृष्टगुणग्रहः। सा० द०

यहाँ चमेली की माला नायिका के अंग से मिलकर सोनजुही-सी दीखती है अर्थात् वह अपना श्वेत गुण त्याग कर नायिका की सुनहली कांति ग्रहण कर रही है।

लखत नीलमनि होत अलि! कर बिद्रुम दिखरात।
मुकता को मुकता बहुरि, लख्यो तोहि मुसकात॥ का० क०

मोती पर जब नायिका की दृष्टि पड़ती है तो वह नेत्रों की नीलिमा से नीला हो जाता है, हाथ में आनेपर उसकी लाली ग्रहण कर वह मूँगे-सा दिखायी देता है और नायिका के हँसने पर दाँतों की उजली द्युति पड़ने से वह फिर मोती का मोती हो जाता है। यहाँ मोती जिस-जिस उत्कृष्टगुणवाले के समीप जाता है उसका गुण ग्रहण कर लेता है।

लै चुभकी चलि जात जित जित जल केलि अधीर।
कीजत केसर नीर से तित तित के सर नीर॥

यहाँ सरोवर का जल अपना रंग छोड़कर नायिका के अंग की द्युति के संपर्क से केसर-नीर सा दीखता है, अतः तद्गुण है।

अरुण किरण माला से रवि की,
निर्झर का चंचल उज्ज्वल जल,
बन सुवर्ण, पिघले सुवर्ण की
धारा सा बहता है अविरल।

यहाँ सूर्य की लाल किरणों के सम्पर्क में आकर निर्झर का जल अपनी उज्ज्वलता छोड़कर उस लालिमा को ग्रहण कर सुंदर वर्णवाला बन जाता है, इसलिये तद्गुण अलङ्कार है।

अतद्गुण

संभव होने पर भी दूसरी वस्तु के गुण का ग्रहण न किया जाना अतद्गुण अलंकार है।†

अतद्गुण का अर्थ है उसके गुणों का न होना अर्थात् दूसरे के गुण का ग्रहण सम्भव होने पर भी उसे न ग्रहण करना। यह तद्गुण के विपरीत है।

धनि धनि चपला धन्य तव, सहज ऊजरो गात।
जा में रँग घनस्याम को, नेकहु नाहिं समात॥

यहाँ एकत्र स्थित रहने से सम्भव होने पर भी घनश्याम के श्याम रंग का चपला के द्वारा ग्रहण न किया जाना कहा गया है, अतः अतद्गुण है।

जाह्नवी के श्वेत, यमुना के असित
सलिल में करते निमज्जन हो अनिश,
पर तुम्हारी हंस! उज्ज्वलता वही,
जो न बढ़ती है न घटती ही कभी।*

यहाँ भी गंगा के उजले और यमुना के नीले जल में स्नान करने पर भी राजहंस का वर्ण न तो अधिक उज्ज्वल होता है, न अधिक नील। इस प्रकार यहाँ जल में स्नान करने से वर्ण-परिवर्त्तन सम्भव होने पर भी उसका न होना कहा गया है।

---

† तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः। सा० द०

मीलित

किसी अनुरूप वस्तु के द्वारा किसी दूसरी वस्तु के छिप जाने में मीलित अलंकार होता है।†

मीलित का अर्थ है मिल जाना। इसमें कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु से इस प्रकार मिल जाती है—तिरोहित हो जाती है—कि उसका स्वरूप अलग दृष्टिगोचर नहीं होता।

पानपीक अधरान में, सखी ! लखी नहिं जाय।
कजरारी अँखियान में, कजरा री ! न लखाय॥

यहाँ नायिका के अधरों की स्वाभाविक लालिमा में पान के रंग का और कजरारी आँखों में कज्जल के रंग का मिलकर छिप जाना कहा गया है, अतः मीलित है।

बरन बास सुकुमारता, सब बिध रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय॥

गुलाब की पंखुड़ी नायिका के कपोल पर सटी है पर रंग, गंध और सुकुमारता के अतिशय सादृश्य के कारण उस (गुलाब की पंखुड़ी) का अलग ज्ञान नहीं होता।

---

† मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित् तुल्यलक्ष्मणा। सा० द०

उन्मीलित

जहाँ मीलित ही में किसी कारण से भेद की प्रतीति होती हो वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है।[†]

उन्मीलित का अर्थ है खुला—यहाँ दो वस्तुओं में भेद खुला अर्थात् स्पष्ट प्रतीत होता है। यह अलंकार मीलित का विलोम (विपरीत) माना गया है। वहाँ अतिशय साहश्य के कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु को छिपा देती है; यहाँ साहश्य के बल पर तिरोधान सम्भव होने पर भी होता नहीं है—दोनों का अंतर दिखायी पड़ता है।

मिलि चंदन-बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय।
ज्यों ज्यों मदलाली चढ़ै, त्यों त्यों उघरति जाय॥

यहाँ गोरे शरीर में (उजले) चंदन की बिंदी का रंग मिलकर भी बढ़ती हुई मद की लाली से स्पष्टतः प्रकट होता जाता है। मुख और चंदन की वर्ण-समानता के कारण (दोनों उज्ज्वल हैं) भेद की प्रतीति नहीं होनी चाहिये थी पर मद के लालीरूप कारणविशेषवश वह (बिंदी) भिन्न हो जाती है।

कंचन तन, घन बरन बर, रह्यो रंग मिलि रंग।
जानी जात सुबास ही, केसर लाई अंग॥

नायिका के सुनहले शरीर के घने और उत्तम रंग में मिला हुआ केसर अपनी सुगंधि के कारण ही जाना जाता है।

दीठि न परत समान दुति, कनक कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत, परस पिछाने जात॥

---

† मीलिते भेदस्फूर्तावुन्मीलितम्। कुवलयानन्दव्याख्या

यहाँ सुनहले शरीर और सोने के आभूषणों का अंतर नहीं दीखता यदि वे आभूषण स्पर्श के समय हाथों को कठोर नहीं लगते ! कठोरता के स्पर्श के अनुभव से आभूषणों और अंगों का पार्थक्य मालूम पड़ता है ।

गले की सोनजुही की माल
कौन आली ! पाता पहचान,
अगर उन्मद मधुपों का झुण्ड
न झुक आता करने मधुपान ?*

यहाँ कंचनवर्ण के शरीर की कांति से मिलकर एक-वर्ण हुई सोनजुही की माला न पहचानी जाती अगर उसकी गंध से आकृष्ट होकर भौंरे उस पर न मँडराने लगते ।

सामान्य

सदृश गुणों के कारण प्रस्तुत का अप्रस्तुत के साथ तादात्म्यप्रतिपादन सामान्य अलङ्कार कहलाता है ।†

सामान्य का अर्थ है—समानता—तुल्यता—सादृश्य । इस अलङ्कार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का गुणसाम्य के कारण अभेद-वर्णन रहता है । अप्रस्तुत के समान गुण न रहने पर भी प्रसाधन आदि साधनों की सहायता से प्रस्तुत तत्तुल्य होकर अभिन्न-सा प्रतीत होता है ।

चंदन चर्चित तन किये, धरि पुनि हीरक हार ।
धवल वस्त्र सजि कामिनी, चाँदनि महँ पग धार ॥

यहाँ अप्रस्तुत चाँदनी के समान प्रस्तुत नायिका में शुक्लता

---

† सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः । सा० द०

न रहने पर भी चंदन-हार-वस्त्र आदि की सहायता से अपने को उसके साथ अभेद-प्रतीति के योग्य बनाया गया है। नायिका शुक्लाभिसारिका है। चाँदनी छिटकी हुई है। वह प्रियतम से मिलने जाना चाहती है। उसे कोई देख न ले इसलिये ऐसी वेशभूषा धारण कर लेती है जिससे वह अपरिलक्षित भाव से चाँदनी में चल सके। श्वेत वस्तुओं की सहायता से वह अपने को चाँदनी के समान ही श्वेत कर लेती है।

जटित जवाहर तन झलक, मिलि मसाल के जाल।
नैक नहीं जानी परत, यह मसाल यह बाल॥

जवाहरों से लदी नायिका के शरीर की प्रभा मसाल की प्रभा में ऐसी मिल गयी है कि दोनों के अंतर का बोध नहीं होता।

यह उज्ज्वल प्रासाद चाँदनी से मिल एकाकार।*

गुण-साम्य (उज्ज्वलता) के कारण प्रस्तुत (प्रासाद) अप्रस्तुत (चाँदनी) से मिलकर अभिन्न प्रतीत हो रहा है।

ये तीनों अलङ्कार बहुत कुछ परस्पर मिलते-जुलते से मालूम पड़ते हैं अतः इनका भेद स्पष्ट कर लेना चाहिये।

(१) तद्गुण में अपने गुण का त्याग कर दूसरे का गुण-ग्रहण होता है।

(२) मीलित में एक (उत्कृष्ट गुणवाली) वस्तु द्वारा दूसरी (निकृष्ट गुणवाली) वस्तु का तिरोधान रहता है। इसमें कोई अपना गुण छोड़ता नहीं है।

(३) सामान्य में समान गुण के कारण भेद की प्रतीति नहीं होती।

अर्थात्

(१) तद्गुण में एक पदार्थ के द्वारा दूसरे पदार्थ का गुणग्रहण,

(२) मीलित में एक का दूसरे के द्वारा तिरोधान या गोपन,

और (३) सामान्य में एक का दूसरे से अभेद या तादात्म्य वर्णित रहता है।

उत्तर

यदि उत्तर चमत्कार-विशिष्ट हो तो उत्तर अलङ्कार होता है।

उत्तर का अर्थ है जवाब। सारे अलङ्कारों का मूल चमत्कार ही है। चमत्कार-हीन कोई उक्ति अलङ्कार नहीं कहला सकती। 'उत्तर' अलङ्कार में भी चमत्कार का रहना आवश्यक है।

प्रथम उत्तर

यदि उत्तर से ही प्रश्न की कल्पना हो जाय।†

'हाँ, इसी ढालवें को जब
बस सहज उतर जावें हम,
फिर सम्मुख तीर्थ मिलेगा
वह अति उज्ज्वल पावनतम।' कामायनी

इस उक्ति को सुनने से ही 'वह तीर्थ कहाँ है' इस प्रश्न की कल्पना हो जाती है।

---

† उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि।
यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्। सा० द०

पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार उत्तर से ही प्रश्न की कल्पना होने में उत्तरालङ्कार होना चाहिये पर अप्पय दीक्षित ने प्रश्न पूर्वक उत्तर में भी उत्तरालङ्कार माना है।

बाल ! कहा लाली भई, लोयन कोयन माँह ?
लाल ! तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाँह।

नायक—प्रिये ! तुम्हारी आँखें लाल क्यों हैं ?

नायिका—लाल ! तुम्हारी आँखों की लाल छाया मेरी आँखों में प्रतिबिम्बित हो रही है (इसीलिये मेरी आँखें लाल हैं)।

नायक रात भर दूसरी नायिका के पास जागकर आया है जिससे उसकी आँखें लाल हैं और इस बात को जानकर नायिका की आँखें क्रोध से लाल हो आयी हैं। प्रश्न और उत्तर का चमत्कार तो प्रत्यक्ष है ही।

द्वितीय उत्तर

यदि अनेक प्रश्नों के अनेक अप्रसिद्ध उत्तर दिये जायँ तो वहाँ भी उत्तरालङ्कार होता है।

कौन लाभ ? ग्रस जगत में, को बल ? जन-संजोग।
को सुभ धन ? संतोष मन, को सुख ? देह निरोग॥

'कौन लाभ' आदि चार प्रश्नों के चार उत्तर दिये गये हैं जो अप्रसिद्ध हैं।

गौरव क्या है ? जन-भार वहन करना ही।
सुख क्या है ? बढ़कर दुःख सहन करना ही।

यहाँ भी गौरव क्या है और सुख क्या है इन प्रश्नों के अप्रसिद्ध उत्तर दिये गये हैं।

ऊपर अनेक प्रश्नों के अप्रसिद्ध उत्तर में जो उत्तरालङ्कार का कथन है वह आवश्यक नहीं। एक प्रश्न के भी अप्रसिद्ध उत्तर में यह अलङ्कार हो सकता है, जैसे—

इस संसार-समर-प्रांगण में जीवन है क्या ? इक संग्राम। नूर०

जीवन क्या है इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है 'संग्राम', जो अप्रसिद्ध है।

तृतीय उत्तर

यदि प्रश्न-वाक्य से ही उत्तर निकल आवे अथवा अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो तो उसे भी उत्तर अलङ्कार कहते हैं। इसे चित्रोत्तर भी कहते हैं।

सरद चंद की चाँदनी को कहिये प्रतिकूल ?
सरद चंद की चाँदनी कोक हिये प्रतिकूल।

यहाँ प्रश्न में ही उत्तर निहित है। शरच्चन्द्र की चाँदनी किसके लिये प्रतिकूल है ? उत्तर है 'कोक हिये' (चकवे के लिये)।

समर-भूमि महँ लरत को ? को तम-रिपु पर क्रूर ?
कविजन महँ सिरमौर को ? निपुन भनत वह 'सूर'।

यहाँ तीनों प्रश्नों का 'सूर' एक ही उत्तर है जिसका अर्थ है, शूर, सूर्य और सूरदास।

रोटी जली क्यों, पान सड़ा क्यों, घोड़ा अड़ा क्यों ?
उत्तर—फेरे बिना।

यहाँ भी अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर है।

सूक्ष्म

जहाँ आकार या इङ्गित से पहचाना हुआ सूक्ष्म अर्थ किसी युक्ति से सूचित किया जाय वहाँ सूक्ष्म अलङ्कार होता है ।†

सूक्ष्म का अर्थ है बारीक । जैसे कोई सूक्ष्म वस्तु किसी स्थूलबुद्धि, अनाड़ी व्यक्ति से नहीं जानी जाती वैसे ही यह अलङ्कार भी सहृदयता-सम्पन्न व्यक्तियों से ही संवेद्य होता है, इसीलिये इसे सूक्ष्म कहते हैं ।

हरषि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सब साथ ।
आँखिन ही में हँसि धर्यो, सीस हिये धरि हाथ ॥

अपरिचित सखियों के बीच रहने के कारण, रास्ते में नायक से भेंट हो जाने पर नायिका उसे देखते ही उसका अभिप्राय समझ जाती है, फिर भी कुछ बोलती नहीं । केवल मुस्कुराकर छाती और सिर पर हाथ रख लेती है अर्थात् मुस्कान से आनंद व्यक्त कर हृदय पर हाथ धरने के द्वारा 'तुम हृदय में बसते हो' यह सूचित करती है और सिर पर हाथ रख उसे प्रणाम करती है । यहाँ आकार मात्र से नायिका ने नायक का आशय समझा है ।

बिनय प्रेम बस भई भवानी । खसी माल, मूरति मुसकानी ॥

सीता के हाथ से माला खिसकने से उनके हृदय का अभिप्राय (राम के प्रति आकर्षण) जान कर पार्वती की

---

† संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ।
कयाऽपि सूच्यते भंग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥ सा० द०

मूर्ति मुस्कुरा पड़ी। यहां भी आकार से ज्ञात सीता के मन का भाव मूर्ति की मुस्कान द्वारा सूचित किया गया है।

लखि गुरुजन बिच कमल सों, सीस छुवायो स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी, हिये लगाई बाम॥

राधा को गुरुजनों के बीच देखकर बोलना उचित न समझते हुए कृष्ण ने कमल को सिर से छुवाया अर्थात् चेष्टा द्वारा यह प्रकट किया कि तुम्हारे कमल रूप चरणों को मैं सिर पर रखता हूँ। राधा ने भी बिना कुछ कहे आईने को कृष्ण के सामने कर छाती से लगाकर उसका उत्तर दिया अर्थात् मैं इस आईने के समान स्वच्छ हृदय में तुम्हें धारण करती हूँ। इस प्रकार चेष्टा से जाने हुए आशय का चेष्टा ही से उत्तर दिया गया है।

व्याजोक्ति

प्रकट हुए रहस्य को किसी बहाने से छिपा लेने में व्याजोक्ति अलंकार होता है। †

व्याजोक्ति का अर्थ है छल या बहाने से कहना। यदि कोई गोपनीय बात, जिसे प्रकट करना अभिमत नहीं हो, किसी प्रकार खुल जाय और उसे फिर छिपा देने के लिये किसी बहाने (व्याज) का सहारा लिया जाय तो वह व्याजोक्ति अलंकार है।

गिरिपति गिरिजा कर धर्‌यौ, सिव-कर में करि नेह।
तन कॉंप्यौ, रोमांच लखि, कह्यौ जड़ानी देह॥

---

† व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजाद् उद्भिन्नस्यापि वस्तुनः। सा० द०

हिमालय ने कन्यादान के समय पार्वती का हाथ शंकर के हाथ में रखा जिसके स्पर्श से शंकरजी को रोमांच हो आया। अपनी परिस्थितिजन्य मानसिक दुर्बलता को वहाँ समवेत जनों के सम्मुख प्रकट हुआ देख देवाधिदेव लज्जित हुए और आनन्द-जनित रोमांच को 'हिमालय के हाथ के अतिशय ठंढे स्पर्श से जनित रोमांच' कहकर उन्होंने छिपा दिया। इस प्रकार हिमालय के करस्पर्श की शीतलता के बहाने से आनन्दोत्पन्न रोमांच छिपाया गया है।

नायिका—लखि हमकौं मुसुकानि, कहा तैं मन मैं जानी ?
सखी—अँखियाँ-खंजन-गुन-गंजन की, अंजन-ओप उड़ानी।
पान-पीक की लीक पलक पर, झलकि रही रस-सानी।
अलक अलि ! कत अरुझानी ?
नायिका—अंजन गयो रुदन तें, पलकन कर-मेहँदी लपटानी।
झलकि मयूर परे अलकन पै, चरन चोंच गहि तानी,
ब्याल-बनिता उन जानी॥ भा०भू०

यहाँ कोई लज्जिता नायिका अपनी आँखों का अंजन चला जाने, पलकों पर पान-पीक लगने एवं अलक बिखरने रूप चिह्नों से सखी द्वारा जाने हुए गुप्त (रति के) रहस्य को इन बहानों से गोपन करती है कि अंजन रुदन से बह गया है, पलकों पर हाथ की गीली मेहँदी का रंग लग गया है और अलकों को सर्पिणी समझ मोरों ने उलझा दिया है। नायिका की अन्तिम उक्ति में ही व्याजोक्ति है।

कारे बरन डरावनो, कत आवत इहि गेह।
कै या लख्यौ, सखी ! लखे लगै थरथरी देह॥

नायिका किसी बहिरंग सखी के पास बैठी है। वहाँ किसी काम से कृष्ण चले आते हैं। उन्हें देखकर नायिका को

आलिंगनेच्छाजन्य कंपन (थरथरी) हो आता है पर उसे वह यह कहकर छिपाती है कि इस काले व्यक्ति को देखकर ही मैं डर से काँपने लगती हूँ। यहाँ प्रकट हुए कंपन के वास्तविक कारण को छिपाकर उसका दूसरा कारण दिया गया है।

अप्पय दीक्षित ने उक्ति के अतिरिक्त चेष्टा, क्रिया आदि के द्वारा भी रहस्यगोपन में व्याजोक्ति अलंकार माना है और 'युक्ति' नाम से उसे पृथक् स्वतन्त्र स्थान दिया है पर इस प्रकार की भेद-कल्पना असार है। क्रिया आदि द्वारा रहस्य-गोपन को अलंकार मानने में आपत्ति नहीं पर केवल इतने से ही उसे एक स्वतन्त्र अलंकार कह डालना असंगत है। वस्तुत: एक ही आशय के पद्य को एक स्थल पर व्याजोक्ति और दूसरे स्थल पर युक्ति का उदाहरण देकर स्वयं दीक्षितजी ने ही दोनों के विषय-भेद में सांकर्य ला दिया है।

क्रिया से रहस्यगोपन :—

ललन चलन सुनि पलन में, अँसुवा झलके आय।
भई लखाइ न सखिन हू, झूठे हो जमुहाय॥

यहाँ नायक के विदेशागमन की बात सुनकर आँखों में आये आँसू, अँगड़ाई की क्रियाद्वारा छिपाये गये हैं—नायिका दिखाना चाहती है कि किसी दूसरे कारण से नहीं बल्कि अँगड़ाई लेने से आँखों में आँसू आये हैं।

लोकोक्ति

प्रसंगवश किसी 'लोकोक्ति' का प्रयोग करने में लोकोक्ति अलंकार होता है।†

† लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति कथ्यते। कुवलयनान्द

लोकोक्ति का अर्थ है कहावत और मुहावरा। कुछ आलंकारिक केवल लोकप्रसिद्ध कहावतों के प्रयोग में ही लोकोक्ति अलंकार मानते हैं पर मुहावरों के प्रयोग में भी उसे मानने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं है। कुवलयानन्द अथवा भाषाभूषण के उदाहरणों से इसकी (मुहावरे के प्रयोग में भी लोकोक्ति मानने की) पुष्टि ही होती है।

आछे दिन पाछे गये, हरि से कियो न हेत।
अब पछतावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥

यहाँ उत्तरार्द्ध में एक प्रसिद्ध कहावत का प्रयोग हुआ है।

ऊधोजू! सूधो गहौ वह मारग ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानिहैं ह्याँ इक स्याम की प्रीति प्रतीति खरी है।
ये ब्रजबाल सबै इक सो 'हरिचंदजू' मंडली ही बिगरी है।
एक जो होइ तो ज्ञान सिखाइए कूपहि में यहाँ भंग परी है॥

—भारतेन्दु

यहाँ 'कूप में भाँग पड़ना' यह लोकोक्ति है।

क्या कोई इसका उपाय ही नहीं कि इसको खाऊँ?
बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजाऊँ। कामायनी

यहाँ 'सुख की बीन बजाना' यह कहावत प्रयुक्त है।

मुहावरों के प्रयोग में लोकोक्ति :—

शाखाओं से वर विटपों की लिपटी ललित लतायें हैं।
मधुपावलि बलि हो प्रसून पर लेती लाख बलायें है। नूरजहाँ

यहाँ 'बलायें लेना' यह मुहावरा व्यवहृत हुआ है।

टके टके को मुँह तकते हैं फिरते मारे मारे हैं;
मेरी किस्मत है चक्कर में बिगड़े भाग्य-सितारे हैं। नूरजहाँ

यहाँ भी अनेक मुहावरे हैं।

जो मेरी आँखों में रहती वही आँख दिखलावे।
जो कल संग हवा खाती थी आज हवा बतलावे। नूरजहाँ

यहाँ भी मुहावरे भरे पड़े हैं।

खड़ी बोली के पद्यग्रंथों में श्री गुरुभक्त सिंह की नूरजहाँ के जैसी मुहावरेदार भाषा कहीं दूसरी जगह नहीं है।

निरुक्ति

किसी शब्द का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर चमत्कारपूर्ण दूसरा (यौगिक) अर्थ करने में निरुक्ति अलङ्कार होता है।

निरुक्ति का अर्थ है शब्द के अर्थानुकूल उसकी व्युत्पत्ति करना—उसके प्रकृतिप्रत्यय में सार्थकता बताना। निरुक्ति अलङ्कार में जो व्युत्पत्ति दी जाती है वह सच्ची नहीं बल्कि काल्पनिक और केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिये रहती है। वस्तुत: यह काल्पनिक व्युत्पत्ति उन्हीं शब्दों में संभव है जिनमें श्लेष का अवकाश रहता हो।

छीनी छबि मृग मीन की, कहो कहाँ की रीति ?
नामहि में नहिं नीति, का करैं 'नयन' ये नीति।

दूसरे की वस्तु छीन लेना नीति-विरुद्ध है पर जिसके नाम से ही नीति का अभाव सूचित हो वह यदि किसी के साथ अनीतिपूर्ण व्यवहार करे तो कोई क्या कहे। हरिणों (की आँखों) और मछलियों का सौन्दर्य छीननेवाले ये नयन

† निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्। कुवलयानन्द

जिनके नाम से ही नीति का अभाव—नय (नीति)+न—टपकता है यदि नीति की रीति न निभायें तो क्या आश्चर्य ! यहाँ नयन का 'नय (नीति) न पालन करनेवाले' यह कवि-कल्पित अर्थ ग्रहण करने में निरुक्ति अलङ्कार है ।

बिरही नर-नारीन को, यह रितु चाय चबाय ।
'दास' कहै याको 'सरद', याही अर्थ सुभाय ।

'सरद' ऋतु का स+रद (दाँतों से युक्त) यह नाम उचित ही है क्योंकि वह बिरही नर-नारियों को चबाता (कष्ट देता) है । 'सरद' का यह नाम दाँतवाला होने के कारण नहीं पड़ा है पर यहाँ उसकी कल्पित व्युत्पत्ति दी गयी है अतः निरुक्ति अलङ्कार है ।

स्वभावोक्ति

जो वस्तु जैसी हो उसका ठीक वैसा ही वर्णन करना स्वभावोक्ति अलङ्कार है । †

स्वभावोक्ति का अर्थ है स्वभाव की उक्ति (कथन) । स्वभाव का संकुचित अर्थ न लेकर यहाँ व्यापक अर्थ लेना होगा ; इसलिये उसका अर्थ होगा सब कुछ जो अपने नैसर्गिक या प्राकृतिक रूप में है । यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि किसी वस्तु के यथावत् वर्णन में अलंकार कैसे संभव है—जो पदार्थ जैसा है उसके वैसे ही चित्रण में चमत्कार कहाँ से आयेगा और चमत्कार के अभाव में अलंकारता कैसी ? इस विषय को लेकर प्राचीन आचार्यों में काफी तर्क-वितर्क हुए हैं । कुछ ने तो इसे अलङ्कार मानने से भी अस्वीकार किया है, पर बात यह है कि यदि ठीक से

† सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद् वर्णनं स्वभावोक्तिः । रूय्यक

विचार किया जाय तो किसी पदार्थ का, कल्पना की सहायता से, नमक-मिर्च लगाकर, अतिरंजनापूर्ण वर्णन करना उसके स्वाभाविक वर्णन से कहीं आसान है। किसी वस्तु के सच्चा वर्णन करने का अर्थ है उसका शब्द-चित्र प्रस्तुत कर देना—उस वर्णन के पढ़ते-पढ़ते वर्णनीय वस्तु के वास्तविक चित्र का मानस प्रत्यक्ष होना ; साथ ही उसमें सरसता के चमत्कार का आधान कर देना जो अलङ्कार की सबसे बड़ी और पहली शर्त है। यह बड़ा कठिन कार्य है। इसके लिये बहुत ऊँची श्रेणी की कलात्मकता अपेक्षित है। सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति के साथ चमत्कारपूर्ण वर्णन के उपयुक्त समर्थ प्रतिभा और वाणी का मणिकांचन योग हुए बिना स्वभावोक्ति का उदाहरण खड़ा करना टेढ़ी खीर है। इसलिए स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना सर्वथा न्याय्य है। कविकर्म की दुरूहता का यह सच्चा प्रमाण है।

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
इहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल॥

यहाँ कृष्ण के रूप का स्वाभाविक वर्णन है।

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधिलेप किए। सूर

यहाँ कृष्ण की बालचेष्टा का स्वाभाविक चित्रण है। स्वभावोक्ति के बहुत अधिक उदाहरण सूर के बालकृष्णवर्णन में वर्त्तमान हैं।

कसी क्षीण कटि, पीन वक्ष था,
कच कन्धरा ढके थे।

स्वर्णवर्ण के उत्तरीय में
चित्रित रत्न टँके थे। —गुप्त

यहाँ भी कृष्ण की मुद्रा का यथावत् शब्दचित्र है।

विग्घाड़ भगा भय से हाथी
लेकर अंकुश पिलवान गिरा।
झटका लग गया, फटी झालर
हौदा गिर गया, निशान गिरा। हल्दीघाटी

युद्ध के अवस्थाविशेष का सजीव-स्वाभाविक वर्णन है।

अन्तरिक्ष में आकुल - आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पंथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला। बच्चन

संध्या के भूले-भटके अकेले पंछी का सच्चा चित्र है।

भाविक

भूत अथवा भावी पदार्थ का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन करना भाविक अलंकार है।†

भाविक शब्द का अर्थ है सत्ता की रक्षा ('भू' सत्तायाम् से 'इक' प्रत्यय कर भाविक शब्द बनता है)। इस अलंकार में भूत और भविष्य के भावों को प्रत्यक्षवत् वर्णन कर मानों उनकी सत्ता की रक्षा की जाती है।

भूतार्थ-वर्णन :—

जहाँ जहाँ नागरि नवल, गई निकुंज मझाइ।
तहाँ तहाँ लखियत अजौं, रही वही छवि छाइ॥

---

† अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। रूय्यक

यहाँ नायिका द्वारा संपादित निकुंज की अतीत शोभा का 'अजौं' पद से वर्त्तमान सा वर्णन किया गया है।

यों दलिमलियत निरदई ! दई कुसुम से गात।
कर धर देखो धरधरा, अजौं न उर तें जात॥

यहाँ नायिका के आलिंगन-जनित विगत खेद का प्रत्यक्ष सा वर्णन है।

भविष्यार्थ-वर्णन :—

कही जाय क्यों अलि भली, छवि प्रति-अंग अनूप।
भावी भूषण भार हू, लसत अबहिं तव रूप॥

इस पद्य में भूषण-संभार से होनेवाले सौंदर्य का वर्त्तमान सा ही वर्णन है।

मति चलाइये चलन की, चरचा स्याम सुजान।
मैं देखति हौं बाहि, यह बात सुनत, बिन प्रान॥

श्याम के जाने के बाद शरीर प्राणहीन होगा पर उसका अभी (प्रत्यक्ष) वर्णन है। अत: भावी भाव (वस्तु) का वर्णन वर्त्तमान के रूप में होने से भाविक अलङ्कार है।

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात
विकम्पित मृदु-उर, पुलकित - गात
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृग-पात ;
पास जब आ न सकोगी, प्राण !
मधुरता में-सी मरी अजान,
लाज की छुईमुई-सी म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अथवा

सुमुखि, वह मधु-क्षण ! वह मधु-बार !
धरोगी कर में कर सुकुमार !
निखिल जब नर-नारी संसार
मिलेगा नव-सुख से नव-बार ;
अधर-उर से उर-अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान,
प्रिये, प्राणों की प्राण ! —पंत

यहाँ भावी पत्नी के सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाले भावों का वर्त्तमान सा—प्रत्यक्ष सा वर्णन होने से भाविक अलङ्कार है।

उदात्त

यदि लोकातिशायी (अलौकिक) सम्पत्ति का वर्णन हो अथवा किसी महापुरुष का चरित्र वर्णनीय वस्तु का अङ्ग हो तो उदात्त अलंकार होता है। †

उदात्त का अर्थ है उत्कृष्ट आदान (यहाँ वर्णन)। यहाँ या तो अतिशय समृद्धि का या महापुरुषों के चरित्र को अंग बनाकर किसी वस्तु का उत्कर्ष-वर्णन रहता है, इसलिये इसे उदात्त कहते हैं।

१ अलौकिक संपत्ति का वर्णन :—

मरकत मनिमय रम्य हर्म्य जहँ सुरन लुभावत;
पदुमराग पुखराज जटित सोपान सुहावत ;

†लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥ सा० द०

बिना जलद जहँ इन्द्रचाप छबि नीकी छाजै।
स्वरग-लजावन-हार पुरी साकेत बिराजै॥

यहाँ अयोध्या की अतिशय समृद्धि का वर्णन होने से उदात्तालंकार है।

हरित मनिन्ह के पत्र-फल, पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल॥

यहाँ श्रीराम-सीता के विवाह-मण्डप की अलौकिक संपत्ति का वर्णन है।

नीलममणि के बन्दनवार, उनमें चाँदी के मृदु तार।
जातरूप के बने किवार, सजे कुसुम से हीरक-द्वार। हल्दीघाटी

यहाँ अकबर के निवास-भवन की अलौकिक शोभा-संपत्ति का वर्णन होने से उदात्त अलंकार है।

२ यदि किसी महापुरुष का चरित्र वर्णनीय वस्तु का अंग हो।

यह सरजू सरिता वही, पावनि पूरनि काम।
पैठि पधारे राम जिहिं, पुरजन सह निज धाम॥

यहाँ सरयू के प्रस्तुत वर्णन में राम को अङ्गरूप से रखकर सरयू को महत्त्व दिया गया है।

यह वही यमुना जहाँ पर केलि की
कृष्ण ने मिल गोपियों के संग में। ॐ

यहाँ प्रस्तुत यमुना-वर्णन में कृष्ण का वर्णन अङ्गरूप से है जिससे यमुना की महत्ता सूचित होती है।

धरा पर धर्मादर्श निकेत, धन्य है स्वर्ग सदृश साकेत।
बढ़े क्यों आज न हर्षोद्रेक, राम का कल होगा अभिषेक।

दशों दिग्पालों के गुणकेन्द्र, धन्य हैं दशरथ महीमहेंद्र।
त्रिवेणी-तुल्य रानियाँ तीन, बहातीं सुखप्रवाह नवीन॥ साकेत

यहाँ अयोध्या के प्रस्तुत वर्णन में राम, दशरथ या उनकी रानियों की चर्चा अङ्गरूप से है।

अनुकूल

यदि प्रतिकूल आचरण अनुकूलता का साधक हो तो अनुकूल अलंकार होता है।†

अनुकूल का अर्थ स्पष्ट है। इस अलंकार में आपाततः जिस क्रिया में प्रतिकूलता परिलक्षित होती है, विचार करने पर उसका पर्यवसान अनुकूलता में होता है।

यदि हो सुंदरि ! कुपित नखक्षत दो मुझे।
भुज-पाशों से बाँध कंठ में लो मुझे।*

नायक नायिका से कहता है कि रूपसि ! यदि तुम क्रुद्ध हो तो मुझे नखक्षत (नख के घाव) दो और भुजपाशों से कंठ में बाँध लो। अपराधी के लिये दण्डविधान किया ही जाता है तो मेरे अपराधों के लिये नख के घाव और भुजपाश का बंधन उचित ही है। यहाँ सहसा तो दण्ड की ही बात सामने आती है पर पर्यालोचना के अनंतर यह प्रतीति होती है कि नखक्षत और भुजपाशबंधन आनंदजनक होने के नाते प्रतिकूल न होकर अनुकूल ही हैं।

क्यों आवाज लगाओगी, हाजिर हूँ बन्दी कर लो।
जंजीरों का कौन काम है मंजु अंक में भर लो। नूर०

---

† अनुकूलं प्रातिकूल्यम् अनुकूलानुबन्धि चेत्। सा० द०

शेर अफगन के साथ मेहरुन्निसा का विवाह हो जाने के बाद पूर्वानुराग के विश्वास पर रात को सोते समय सलीम उसके कमरे में जाता है पर विवाह के बाद मेहरुन्निसा उस (सलीम) से प्रेम-सम्बन्ध रखना उचित न समझकर उसके इस अनुचित आचरण पर दूसरों को पुकारना चाहती है। उसी पर सलीम की उक्ति है—मुझे गिरफ्तार करने के लिये ही तो दूसरों को आवाज देना चाहती हो। मैं तो खुद हाजिर हूँ, भला उसके लिये इतना हंगामा! मुझे बंदी बनाने के लिये जंजीरों की क्या आवश्यकता है, अपने आलिंगनपाश में बाँध लो।

यहाँ भी आलिंगनपाश में बाँधने की प्रतिकूलता आनन्ददायक होकर अनुकूलता का साधक बन रही है, अतः अनुकूल अलंकार है।

मिश्रित अलंकार

अब तक जितने अलंकार निरूपित किये जा चुके हैं उनमें से कभी अनेक की स्थिति एक ही संदर्भ में पायी जा सकती है—वे मिश्रित रूप में देखे जा सकते हैं। यह मिश्रण दो प्रकारों से सम्भव है—(१) कहीं तो एकत्र सन्निविष्ट रहने पर भी तिल-तण्डुल-न्याय से वे परस्पर निरपेक्ष हों अर्थात् एकत्र स्थित होने पर भी उनकी स्वतंत्र सत्ता अव्याहत—अक्षुण्ण रहे; या (२) कहीं वे नीर-क्षीर-न्याय से इस प्रकार आपस में मिले-जुले हों कि उनका पृथक्करण सम्भव न हो सके।

तिल-तण्डुल-न्याय का मतलब है तिल और चावल की तरह; तिल और चावल को एक साथ मिला दें तो मिल जाने पर भी उनका स्वरूप पृथक्-पृथक् दिखाई देता रहेगा यदि कोई चाहे तो उन्हें फिर अलग कर ले सकता है। तो तिल और चावल का यह मिश्रण परस्पर निरपेक्ष है—एक साथ

रहते हुए भी दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। पर यदि दूध और पानी को एक साथ मिला दिया जाय तो वे मिलकर एक-रूप हो जायँगे—उनकी पृथकता का ज्ञान नहीं हो सकेगा—उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यदि किसी संदर्भ में अनेक अलंकार हों पर उनका आपस में—सिवा इसके कि वे एकत्र हैं—और कोई सम्बन्ध न हो, और एक दूसरे से उन्हें अलग कर देने पर भी तिल-तंडुल की भाँति उनकी स्वतंत्र सत्ता सम्भव होती हो तो संसृष्टि अलंकार होता है। इसके विपरीत यदि नीर-क्षीर-न्याय के अनुसार (दूध-पानी के समान) अनेक अलंकारों का ऐसा मिश्रण हो कि उनको अलग नहीं किया जा सके तो वहाँ संकर अलंकार होता है।

संसृष्टि

तिल-तण्डुल-न्याय से परस्पर निरपेक्ष अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति में संसृष्टि अलंकार होता है।†

संसृष्टि का अर्थ है संसर्ग या मेल। मेल का मतलब ही है अनेक का एकत्रीकरण ; अतएव अनेक अलंकारों के मेल—एकत्र स्थिति को संसृष्टि कहते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है इसमें अलंकारों की तिल-तण्डुल-न्याय से परस्पर निरपेक्ष, स्वतन्त्र स्थिति होनी चाहिये।

संसृष्टि तीन प्रकार से सम्भव है :—

(१) शब्दालंकार संसृष्टि—जहाँ अनेक शब्दालंकारों की ही एकत्र स्वतन्त्र रूप से स्थिति हो।

---

† एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वे संसृष्टिः। रूय्यक

(२) अर्थालंकार संसृष्टि—जहाँ केवल अनेक अर्थालंकारों की एकत्र स्वतन्त्र रूप से स्थिति हो।

(३) उभयालङ्कार संसृष्टि—जहाँ शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों की एकत्र स्वतन्त्र रूप से स्थिति हो।

१. शब्दालङ्कार-संसृष्टि :—

वितरती गृह-वन मलय-समीर
साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि, सुख, गान,
मार केशर - शर मलय - समीर
हृदय हुलसित कर, पुलकित प्राण। —पंत

यहाँ द्वितीय चरण में 'स' की अनेक बार, चतुर्थ चरण में 'ह' और 'प' की एक बार आवृत्ति रहने से वृत्त्यनुप्रास, केशर-शर में यमक और उसी चरण में 'मार' 'समीर' में 'मर' इस व्यंजन-समूह की एक बार आवृत्ति रहने से छेक है। इस प्रकार वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास और यमक की एक ही पद्य में अलग-अलग स्थिति होने से शब्दालङ्कार-संसृष्टि है।

प्रलय करन बरपन लगे, जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति-गर्व हर्‌यो हरषि, गिरिधर गिरि धर हाथ॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'र' की अनेक बार और 'ज' की एक बार आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास, 'हर्‌यो हरषि' में 'हर' इस व्यंजन-समूह की एक बार आवृत्ति से छेकानुप्रास और 'गिरिधर गिरिधर' में यमक है। इस प्रकार इन तीन अलङ्कारों की पृथक्-पृथक् निरपेक्ष स्थिति से शब्दालङ्कार-संसृष्टि है।

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान ते, हरि नीके ये नैन॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'मैन-मैन' और उत्तरार्द्ध में 'हरिनी के

हरि नीके' में यमक है। दो यमकों की निरपेक्ष स्थिति से शब्दालङ्कार-संसृष्टि है।

२. **अर्थालङ्कार-संसृष्टि**—

मेरा मधुकर का-सा जीवन,
कठिन कर्म है, कोमल है मन;
विपुल मृदुल-सुमनों से सुरभित
विकसित है विस्तृत जग- उपवन। —पन्त

यहाँ प्रथम चरण में उपमा और चतुर्थ चरण (जग-उपवन) में रूपक है। इस प्रकार दो अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित। —पन्त

यहाँ पूर्वार्द्ध में रूपक और उत्तरार्द्ध में उपमा के रहने से दो अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरो बाँधनिहारि॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में स्वभावोक्ति और उत्तरार्द्ध में वक्रोक्ति की स्थिति से दो अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

३. शब्दार्थालंकार-संसृष्टि—

तरनि-तनूजा-तट तमाल-तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये।

यहाँ प्रथम चरण में 'त' की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास और द्वितीय चरण में उत्प्रेक्षा है तथा दोनों की निरपेक्ष स्थिति है। यहाँ एक शब्दालङ्कार और एक अर्थालङ्कार की संसृष्टि है।

सायँक सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।

यहाँ पूर्वार्द्ध की उपमा और उत्तरार्द्ध के यमक की संसृष्टि है।

संकर

नीर-क्षीर-न्याय से परस्पर मिश्रित अलङ्कारों को संकर अलङ्कार कहते हैं।†

संकर का अर्थ है एकदम मिला हुआ—ऐसा मिश्रण जिसका पृथक्करण न हो सके। नीर-क्षीर-न्याय की व्याख्या पहले हो चुकी है। इसमें अनेक अलङ्कार दूध-पानी की तरह एक साथ मिले रहते हैं। संकर अलङ्कार में दन्त्य 'स' है इस पर ध्यान रखना चाहिये; तालव्य 'श' का प्रयोग भूलकर भी भी नहीं करना चाहिये। इसके तीन भेद होते हैं :—

(१) अङ्गाङ्गिभाव संकर

(२) एकाश्रयानुप्रवेश संकर

(३) सन्देह संकर।

अङ्गाङ्गिभाव संकर

यदि अनेक अलङ्कार अन्योन्याश्रित हों तो अङ्गाङ्गि-भाव संकर होता है।

अङ्ग का अर्थ है अप्रधान या गौण और अङ्गी का प्रधान। इसमें एक अलङ्कार की सिद्धि से दूसरे अलङ्कार की सिद्धि होती है—यदि पहला अलङ्कार उपपन्न न हो तो दूसरा भी

---

† क्षीरनीरन्यायेन तु सङ्करः। रूय्यक

नहीं टिक सकता ; इसीलिये उनमें अङ्ग और अङ्गी, अप्रधान और प्रधान का भाव रहता है।

हौं रीझी लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होत दुति, मिलत मालती माल॥

नायिका के शरीर की सुनहली कांति से मिलकर चमेली की माला अपनी उज्ज्वलता छोड़ पीतवर्ण हो जाती है, इसलिये वह चमेली के बदले सोनजुही (सोने के रंग अर्थात् पीले रंग की जुही) की माला सी प्रतीत होने लगती है। अपनी उज्ज्वलता छोड़ शरीर की कांति के सम्पर्क से चमेली की माला के पीतवर्ण होने में तद्गुण अलङ्कार है ; फिर पीत-वर्ण हो जाने पर चमेली की माला सोनजुही की माला सी दिखाई पड़ती है अतः उपमा है। इस प्रकार तद्गुण उपमा का साधक है—तद्गुण के द्वारा ही उपमा की निष्पत्ति होती है। यदि चमेली की माला का वर्ण-परिवर्त्तन हो ही नहीं—वह उजली ही रह जाय तो सोनजुही से (जो पीली होती है) उसकी उपमा कैसे संगत होगी ? यहाँ तद्गुण उपमा का साधक होने से अप्रधान—अङ्ग अलङ्कार है और उपमा साध्य होने से प्रधान अर्थात् उसका अङ्गी। अतः तद्गुण और उपमा का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर।
जानति हौं नंदित करी, यह दिसि नंदकिसोर॥

बिना मेघ के ही वन में अचानक मोरों के नाच उठने से नायिका अनुमान करती है कि अवश्य किसी ओर से कृष्ण आ रहे हैं, उन्हीं को देख मोरों को मेघ का भ्रम हुआ है (मेघ भी श्याम रंग का होता है और कृष्ण का रंग भी श्याम है इसीलिये भ्रम का अवकाश है)। यहाँ मोरों का अचानक

नाचना देखकर कृष्ण के आगमन का अनुमान होता है पर मोरों का नाचना स्वतः कृष्ण में मेघ का भ्रम हो जाने के कारण है। यदि वे कृष्ण को मेघ नहीं समझते तो कैसे नाचते ? अतः कृष्ण में मोरों को मेघ का भ्रम हो जाने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार हुआ और उसके आधारपर अनुमान सिद्ध होता है इस प्रकार अनुमान भ्रान्तिमान् पर निर्भर करता है— भ्रान्तिमान् के बिना अनुमान टिक ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ इन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।

पवन-विकंपित महीरुहों के तले काँपती छाया।
चंद्र-सिंह-हत तिमिर-गजों की मानों खंडित काया॥

चाँदनी रात में हवा से काँपते हुए वृक्षों की, नीचे पड़ती हुई, इधर-उधर हिलती, छाया ऐसी लग रही है जैसे चंद्रमा रूपी सिंह के द्वारा मारे हुए अंधकार-रूपी हाथियों के शरीर के टुकड़े इधर उधर छटपटा रहे हों।

यहाँ तिमिर (अंधकार) में गजों का आरोप चंद्र में सिंह के आरोप का कारण है अतः परंपरित रूपक है। फिर वृक्षों की चंचल छाया में हाथी के शरीर के टुकड़ों की उत्प्रेक्षा की गयी है। अब देखना यह है कि किस पर कौन अलङ्कार आश्रित है ? छाया में 'खंडित काया' की उत्प्रेक्षा तब तक नहीं संगत होती जब तक अंधकार को हाथी और चंद्र को सिंह न मान लें। सिंह के द्वारा मारे गये हाथी के शरीर के टुकड़े यहाँ-वहाँ बिखरे रहते हैं। यहाँ भी चाँदनी से अंधकार सिमट सिमट कर वृक्षों की छाया के रूप में पड़ा हुआ है। तो पहले तिमिर में गज और चन्द्रमा में सिंह का रूपक कर लेने पर छाया में हाथी की 'खंडित काया' की उत्प्रेक्षा हो पाती है अतः रूपक पर ही उत्प्रेक्षा अवलम्बित है। यदि

तिमिर को गज और चन्द्रमा को सिंह न कहें तो छाया को 'खंडित काया' कहना एकदम ऊटपटांग और निरर्थक होगा। इस प्रकार रूपक उत्प्रेक्षा का साधक है, अतः रूपक अङ्ग है और उत्प्रेक्षा अङ्गी।

एकाश्रयानुप्रवेश संकर

यदि एक ही आश्रय में अनेक अलंकार स्थित हों तो एकाश्रयानुप्रवेश संकर होता है।

एकाश्रयानुप्रवेश को एकवाचकानुप्रवेश भी कहा जाता है—वाचक का अर्थ है पद या वाक्य। इसी से स्पष्ट है कि एक ही स्थल में अनेक अलङ्कारों की स्थिति को एकाश्रयानुप्रवेश संकर कहते हैं। संकर के तीनों भेदों में सबसे अधिक उदाहरण इसी के मिलते हैं।

बंदउँ गुरु पद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥

यहाँ पद-पदुम में छेकानुप्रास और रूपक दोनों हैं; इस प्रकार शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है।

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सोहाई।

यहाँ उत्तरार्द्ध के पारस-परस में छेकानुप्रास और यमक का एकाश्रयानुप्रवेश संकर है।

उपर्युक्त दोनों स्थलों में संसृष्टि की शंका न करनी चाहिये, क्योंकि 'पद-पदुम' में छेकानुप्रास और रूपक तथा 'पारस-परस' में छेकानुप्रास और यमक इस भाँति परस्पर संश्लिष्ट हैं कि उनका पृथक्करण संभव नहीं।

पानपीक अधरान में, सखी लखी नहिं जाय।
कजरारी अँखियान में, कजरा री न लखाय।

यहाँ उत्तरार्द्ध में 'कजरारी कजरा री' में यमक और काली आँखों में कज्जल के छिप जाने से मीलित है। इस प्रकार शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का एकाश्रयानुप्रवेश है।

निज पलक, मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल निज शस्य-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी। —पन्त

पहले के दो चरणों में सहोक्ति, यथासंख्य और लुप्तोपमा का एकाश्रयानुप्रवेश है। अवनि से पलक और उर से विकलता के उठाने में यथासंख्य, पलक और विकलता के एक साथ उठाने में सहोक्ति और मृगेक्षिणि में लुप्तोपमा है।

सन्देह संकर

जहाँ अनेक अलङ्कारों की स्थिति में यह निर्णय न हो सके कि कौन अलङ्कार है वहाँ सन्देह संकर होता है।

सन्देह संकर जैसा नाम से ही स्पष्ट है, वैसे स्थल में होता है जहाँ अनेक अलङ्कारों की प्राप्ति हो और साधक-बाधक-भाव के द्वारा भी अंत-अंत तक निश्चयात्मक रूप से यह निर्णय न हो सके कि कौन अलङ्कार है। वैसी दशा में जिन अलङ्कारों में सन्देह होता है उनका नाम लिखकर यह कह दिया जाता है कि इनका सन्देह सङ्कर है पर कहीं भी संदेह सङ्कर कहने के पहले खूब समझ-बूझ कर, काफी सूक्ष्मता से विचार कर लेने पर ही, वैसा निर्णय देना चाहिये। ऐसा

नहीं कि जहाँ कोई अलङ्कार समझ में नहीं आया वहाँ दो-चार अलङ्कारों का नाम लेकर सन्देह-संकर कह दिया ।

साधक-बाधक-भाव, जो संदेह संकर का निर्णायक है, किसे कहते हैं यह पहले देख लीजिये। जो बात किसी अलङ्कार-विशेष के मानने में सहायक हो, अनुकूल हो, उसे उसका साधक और जो उसके विरुद्ध या प्रतिकूल हो, जिसके रहते वह अलङ्कार न माना जा सके, उसे उसका बाधक कहते हैं। उदाहरणार्थ उपमा और रूपक को लीजिये जो सबसे अधिक व्यापक अलङ्कार हैं। यदि धर्म मुख्यतः उपमेयनिष्ठ हो तो उपमा और उपमाननिष्ठ हो तो रूपक माना जाता है।

साधक के द्वारा अलङ्कार-निर्णयः—

मुख - चंद्र चमकता है।

यहाँ चमकना धर्म लक्षणा द्वारा मुख में भी संभव होने से उपमा का बाधक नहीं है, फिर भी प्रधानतः उपमान-चंद्र-निष्ठ होने से रूपक का साधक है अतः यहाँ रूपक ही है उपमा नहीं। यहाँ केवल साधक के द्वारा संदेह का निवारण हुआ है।

तेरे आनन-चंद को मधुर मंद मृदु हास।

यहाँ हास-रूप धर्म लक्षणा द्वारा चन्द्र में भी लागू हो सकता है अतः रूपक का बाधक नहीं है पर प्रधानतः आनन—उपमेय का धर्म होने से (हँसी मुख में ही रहती है) उपमा का साधक है। इस प्रकार यहाँ उपमा ही है रूपक नहीं। यहाँ भी केवल साधक के द्वारा दो अलङ्कारों के सन्देह में एक का निर्णय हो रहा है।

बाधक के द्वारा अलंकार-निर्णय :—

नृप-नारायण ! तुम्हें रमा आलिंगन करती ।

यहाँ नृप-नारायण में 'नृप के समान नारायण' इस प्रकार उपमा हो या 'नृप ही नारायण' यह रूपक, ऐसा सन्देह है। पर रमा (लक्ष्मी) द्वारा नृप (उपमेय) का आलिंगन असम्भव और नारायण (उपमान) का संभव है, अतः यह उपमा का बाधक है। इस प्रकार यहाँ रूपक है उपमा नहीं। यहाँ निर्णय बाधक के द्वारा हुआ।

साधक-बाधक दोनों के द्वारा अलंकार-निर्णय :—

वह मुख-चंद्र चूमता है।

यहाँ मुख-चंद्र में धर्म-वाचक-लुप्ता उपमा है या रूपक यह सन्देह उपस्थित होता है। दोनों सम्भव दीखते हैं। पर यहाँ उपमा ही है रूपक नहीं क्योंकि चूमना धर्म उपमेय (मुख) के ही अनुकूल है—मुख ही चूमा जाता है चंद्र नहीं। अतः चूमना उपमेयनिष्ठ होने से उपमा का साधक और उपमान (चंद्र) के प्रतिकूल होने से रूपक का बाधक है। यहाँ साधक-बाधक दोनों हैं।

यही साधक-बाधक-भाव का स्पष्टीकरण है। जहाँ अनेक अलंकारों में सन्देह होता है वहाँ इसीके द्वारा अन्यतम का निर्णय किया जाता है पर यदि साधक-बाधक-भाव का भी अवकाश नहीं रहा तो वैसी दशा में उन अलंकारों का सन्देह संकर हुआ करता है, जैसे :—

वह मुख-चंद्र देखता है।

इस उदाहरण में साधक-बाधक कुछ नहीं है। यहाँ देखना

मुख और चंद्र दोनों के अनुकूल है। अतः इस उदाहरण में उपमा है या रूपक यह कहना सम्भव नहीं। इस प्रकार इसमें उपमा और रूपक का सन्देह सङ्कर है।

पावक-झर तें मेह-झर, दाहक दुसह बिसेख।
दहै देह वाके परस, याहि दृगनु ही देख।

यहाँ पावक-झर (अग्निवर्षा) से मेहझर (जलवर्षा) को अधिक दाहक और दुस्सह कहा गया है, साथ ही पावक-झर के अपकर्ष और मेहझर के उत्कर्ष का कारण भी उक्त है अतः व्यतिरेक है। दूसरी दृष्टि से विचार करने पर यहाँ काव्यलिंग भी है। पावक-झर की अपेक्षा मेहझर को अधिक दाहक कहना किसी कारण की अपेक्षा रखता है। यह बात तो सिद्ध है कि मेहझर में दाहकता नहीं रहती और यहाँ उसे केवल दाहक ही नहीं कहा गया है, बल्कि अग्निवर्षा से भी अधिक दाहक बताया गया है। तो अग्निवर्षा की अपेक्षा मेघवर्षा को विशेष दाहक कहने में कुछ कारण अवश्य होगा और वही उत्तरार्द्ध में कथित है। अग्निवर्षा तो स्पर्श से जलाती है पर जलवर्षा को देखने से ही जलन पैदा हो जाती है (विरह के कारण), इसीलिये अग्निवर्षा से जलवर्षा अधिक दाहक है। इस प्रकार वाक्यार्थगत काव्यलिंग भी है। तो यहाँ व्यतिरेक और काव्यलिंग की समान रूप से स्थिति है और किसी एक के पक्ष में निर्णय करना सम्भव नहीं, अतः दोनों का सन्देह सङ्कर अलङ्कार है।

यह अंबर में शोभता सघन तिमिर कर दूर।
नयनों का आनन्दकर विधु सुषमा का पूर।*

यहाँ मुख का चंद्र से अभेदाध्यवसान होने से अतिशयोक्ति है, या 'यह' के द्वारा मुख का निर्देश कर उसमें चंद्र का

आरोप करने से रूपक है, या 'यह' से निर्दिष्ट मुख और चंद्र दोनों प्रस्तुतों का 'शोभता' है इस एक धर्म से सम्बन्ध रहने से तुल्ययोगिता है, अथवा 'यह' से निर्दिष्ट मुख प्रस्तुत और 'चंद्र' अप्रस्तुत का एक-धर्म-सम्बन्ध रहने से दीपक है, अथवा विशेषणों की समानता के कारण प्रस्तुत चंद्र के वर्णन से अप्रस्तुत मुख की प्रतीति होने से समासोक्ति है, या अप्रस्तुत चंद्रवर्णन से प्रस्तुत मुख की प्रतीति कराने से अप्रस्तुतप्रशंसा है? इस प्रकार यहाँ अनेक अलङ्कारों का सन्देह होने से सन्देह सङ्कर अलङ्कार है।



अलङ्कारों के पारस्परिक अन्तर का विवेचन

१. यमक—लाटानुप्रास :—यमक में केवल शब्दों की आवृत्ति होती है अर्थ की नहीं ; लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होती है। (पृ० १२—६)

२. „ —पुनरुक्तवदाभास :—समान अर्थ की आवृत्ति का संदेह उत्पन्न करनेवाले शब्द दोनों में रहते हैं किंतु यमक में उन (शब्दों) का आकार ही एक रहता है, अर्थ भिन्न होते हैं ; पुनरुक्तवदाभास में आकार और अर्थ दोनों ही भिन्न रहते हैं। (पृ० १२—२७)

३. उपमा—रूपक :—उपमा में सादृश्य वाच्य रहता है और रूपक में व्यंग्य ; उपमा में सादृश्य की प्रधानता होती है और रूपक में तादात्म्य (अभेद) की। (पृ० ३०—६०)

४. „ —उत्प्रेक्षा :—उपमा में उपमेय-उपमान का साम्य प्रतिपादित किया जाता है ; उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान से अभेद की संभावना की जाती है। (पृ० ३०—८८)

५. रूपक—भ्रान्तिमान् :—रूपक में उपमेय-उपमान का अभेद-कथन रहता है पर वक्ता को दोनों का भेद ज्ञात रहता है (वह जानता है कि मुख और चंद्र विभिन्न पदार्थ हैं पर केवल चमत्कार के लिये उन्हें अभिन्न रूप से उपस्थित किया गया है) ; भ्रान्तिमान् में उपमेय में उपमान का भ्रम (धोखा) हो जाता है। तात्पर्य यह कि रूपक में जान-बूझकर एक वस्तु को दूसरी वस्तु कहा जाता है पर भ्रान्तिमान् में धोखे से—भ्रान्त ज्ञान से। (पृ० ६०—७६)

६. ,, —अपह्नुति :—रूपक में उपमेय में उपमान का निषेध-रहित आरोप होता है, अपह्नुति में निषेध-सहित। (पृ० ६०—८२)

७. अपह्नुति—वक्रोक्ति :—वक्रोक्ति में दूसरे व्यक्ति के कथन को उलट कर दूसरा अर्थ किया जाता है; छेकापह्नुति में अपने ही कथन का अर्थ बदल दिया जाता है। (पृ० ८२—२२)

८. रूपक—उल्लेख :—निरङ्ग माला-रूपक में एक वस्तु में अनेक वस्तुओं का आरोपमात्र रहता है; उल्लेख में एक वस्तु के अनेकधा वर्णन में आरोपमात्र कारण नहीं होता बल्कि परिस्थिति-भेद से उसकी वस्तुतः अनेक रूप में अवस्थिति रहती है। (पृ० ६०—७२)

९. ,, —अतिशयोक्ति :—रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का शब्दतः कथन कर उनमें अभेद प्रतिपादित किया जाता है; अतिशयोक्ति में उपमेय को छिपाकर (उसका बिना नाम लिए ही) उससे उपमान का अभेद दिखाया जाता है। (पृ० ६०—६९)

१०. उल्लेख—भ्रान्तिमान् :—भ्रान्तिमान् में भ्रम रहता है; उल्लेख में भ्रम नहीं रहता, उसका ज्ञान सत्य होता है। (पृ० ७२—७३)

११. संदेह—भ्रान्तिमान् :—संदेह में ज्ञान द्विकोटिक होता है—दो वस्तुओं में निश्चय नहीं हो पाता कि यह है या यह; भ्रान्तिमान् में ज्ञान एककोटिक (निश्चित) तो होता है पर होता है वह मिथ्या अर्थात् भ्रान्त—उसमें दूसरी वस्तु को सर्वथा दूसरी वस्तु मान लिया जाता है। (पृ० ७६—७६)

१२. उत्प्रेक्षा—भ्रान्तिमान् :—उत्प्रेक्षा में वस्तु के वास्तविक रूप

का भी ज्ञान रहता है; भ्रान्तिमान् में उसके वास्तविक रूप का एकदम ज्ञान नहीं रहता। (पृ० ८८—७६)

१३. „ —संदेह :—संदेह में दोनों कोटियों की समान रूप से प्रतीति होती है, उत्प्रेक्षा में उत्कट रूप से संभावित एक कोटि की। (पृ० ८८—७६)

१४. „ —अतिशयोक्ति :—अतिशयोक्ति में उपमेय का कथन ही नहीं होता, केवल उपमान ही कथित रहता है ; उत्प्रेक्षा में उपमेय का भी कथन रहता है और उसके साथ उपमान की संभावना की जाती है। (पृ० ८८—६६)

१५. „ —रूपक :—रूपक में उपमेय में उपमान का आरोप होता है, उत्प्रेक्षा में संभावना। (पृ० ८८—६०)

१६. दीपक—तुल्ययोगिता :—तुल्ययोगिता में प्रस्तुत का प्रस्तुत के साथ या अप्रस्तुत का अप्रस्तुत के साथ एक धर्म से संबंध बताया जाता है ; दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक साथ एक धर्म से संबंध बताया जाता है। (पृ० ११०—१०७)

१७. „ —प्रतिवस्तूपमा :—दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक-धर्म-संबंध एक शब्द द्वारा कहा जाता है ; प्रतिवस्तूपमा में प्रस्तुताप्रस्तुत का एक-धर्म-संबंध समानार्थक पर दो शब्दों द्वारा कहा जाता है। (पृ० ११०—११७)

१८. पदार्थावृत्ति दीपक—लाटानुप्रास :—शब्द और अर्थ की आवृत्ति इन दोनों अलकारों में रहती है पर लाटानुप्रास में शब्द-अर्थ की आवृत्ति के साथ तात्पर्य में भेद रहता है और पदार्थावृत्ति दीपक में तात्पर्य-भेद नहीं रहता। (पृ० ११५—६)

१९. प्रतिवस्तूपमा—दृष्टान्त :—प्रतिवस्तूपमा में समानधर्म एक ही रहता है (पर दो भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है); दृष्टान्त में समानधर्म दो होते हैं (दो शब्दों से कहे जाते हैं) और उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव रहता है। (पृ० ११७—११९)

२०. ,, —उपमा :—उपमा में साधारण धर्म एक होता है, उसका एक बार और एक ही शब्द से कथन किया जाता है; प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म होता तो है एक ही पर उसका दो बार और शब्द-भेद से कथन किया जाता है। उपमा में एक ही वाक्य होता है और प्रतिवस्तूपमा में दो। (पृ० ११७—३०)

२१. ,, —अर्थान्तरन्यास :—प्रतिवस्तूपमा के दो वाक्यों में उपमेय-उपमान-भाव रहता है और अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य-समर्थक-भाव। तात्पर्य यह कि प्रतिवस्तूपमा में दूसरा वाक्य पहले वाक्य से सादृश्य की प्रतीति कराता है और अर्थान्तरन्यास में दूसरा वाक्य पहले वाक्य का समर्थन करता है। (पृ० ११७—२२०)

२२. ,, —निदर्शना :—प्रतिवस्तूपमा में उपमेय-उपमान-वाक्य परस्पर निरपेक्ष होते हैं अर्थात् एक दूसरे के बिना (अलग-अलग) भी उनका अर्थ संगत होता है; निदर्शना में दोनों वाक्य सापेक्ष होते हैं, वे परस्पर मिलकर ही अर्थ की संगति कराते हैं। प्रतिवस्तूपमा में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव नहीं रहता, निदर्शना में रहता है। (पृ० ११७—१२१)

२३. दृष्टान्त—निदर्शना :—दृष्टान्त में उपमेय और उपमान-

वाक्य परस्पर निरपेक्ष—स्वतंत्र रहते हैं, सार्थकता के लिये उन्हें एक दूसरे की सहायता अपेक्षित नहीं होती ; निदर्शना में दोनों परस्पर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हुआ करते हैं—बिना एक दूसरे की सहायता के उनका अर्थ संगत नहीं होता।

दृष्टान्त और निदर्शना दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव रहता है किन्तु दृष्टान्त में अर्थ-संगति के बाद बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की कल्पना होती है, निदर्शना में पहले बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की कल्पना हो लेती है तब अर्थ-संगति होती है। (पृ० ११६—१२१)

२४. „ —उदाहरण :—दृष्टान्त में सादृश्यवाचक शब्द नहीं रहता, उदाहरण में रहता है। (पृ० ११६—१२८)

२५. „ —अर्थान्तरन्यास :—दृष्टान्त के दोनों वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव रहता है, अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य-समर्थक-भाव ।

दृष्टान्त के दोनों वाक्य या तो सामान्य होते हैं अथवा विशेष ; अर्थान्तरन्यास में एक सामान्य और दूसरा विशेष, दोनों सामान्य या दोनों विशेष नहीं हो सकते। (पृ० ११६—२२०)

२६. समासोक्ति—श्लेष :—श्लेष में प्राय: दोनों अर्थ प्रस्तुत और विवक्षित होते हैं ; समासोक्ति में एक ही अर्थ प्रस्तुत होता है और दूसरा अप्रस्तुत।

श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं, समासोक्ति में केवल प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यङ्ग्य। श्लेष में विशेषणों के साथ विशेष्य भी श्लिष्ट हो सकते हैं, समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं। (पृ० १३७—१४)

२७. ,, —अप्रस्तुतप्रशंसा :—समासोक्ति में प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यङ्ग्य रहता है ; अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत वाच्य और प्रस्तुत व्यङ्ग्य। दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। (पृ० १३७—१४१)

२८. ,, —रूपक :—रूपक में प्रस्तुत में अप्रस्तुत के 'स्वरूप' का आरोप होता है; समासोक्ति में प्रस्तुत में अप्रस्तुत के 'व्यवहार' का। रूपक में प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों वाच्य होते हैं ; समासोक्ति में केवल प्रस्तुत ही वाच्य रहता है और अप्रस्तुत व्यङ्ग्य। (पृ० १३७—६०)

२६. शब्दश्लेष—अर्थश्लेष :—शब्दश्लेष में अनेकार्थक शब्दों से अनेक अर्थ की प्राप्ति होती है, अर्थश्लेष में सामान्यत: एकार्थक शब्दों से अनेक अर्थ की।

शब्दश्लेष में शब्द-परिवर्त्तन संभव नहीं होता, अर्थश्लेष में होता है। अर्थात् शब्दश्लेष में यदि शब्द बदल दें तो अर्थ बदल जायगा ; अर्थश्लेष में शब्दों के बदलने पर भी अर्थ नहीं बदलता। एक का चमत्कार शब्दनिष्ठ है, दूसरे का अर्थनिष्ठ। इसीलिए एक को शब्दश्लेष कहते हैं, दूसरे को अर्थ-श्लेष। (पृ० १५—१४६)

३०. श्लेष—ध्वनि :—श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य रहते हैं, ध्वनि में एक वाच्य और दूसरा व्यङ्ग्य। तात्पर्य यह कि श्लेष में दोनों अर्थ अभिधा शक्ति से प्राप्त किये जाते हैं, ध्वनि में एक (प्रस्तुत) अभिधा द्वारा और दूसरा व्यंजना द्वारा।

३१. विशेषोक्ति—विभावना :—ये दोनों एक दूसरे के प्रतिलोम हैं। विशेषोक्ति में कारण रहते हुए भी कार्य नहीं

होता, विभावना में कार्य होता है पर उसका कारण नहीं रहता। (पृ० १६७—१६१)

३२. विरोधाभास—विभावना :—विभावना में कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन होता है अर्थात् उसका मूल कारणाभाव और कार्य का विरोध है जिसकी निवृत्ति कारणान्तर से की जाती है। पर विरोधाभास में कार्य-कारण-संबंध के जैसा कुछ नहीं रहता, दो वस्तुएं परस्पर विरुद्ध-सी मालूम पड़ती हैं यद्यपि उनमें वास्तविक विरोध रहता नहीं। (पृ० १५८-१६१)

३३. " —असंगति :—असङ्गति में जिनका एक स्थान पर रहना प्रसिद्ध है उनका भिन्न स्थानों में रहना बताया जाता है ; इसके प्रतिकूल विरोधाभास में जिन वस्तुओं का अलग रहना प्रसिद्ध है उनका एक स्थान में रहना वर्णन किया जाता है। (पृ० १५८—१७२)

३४. " —विषम :—विरोधाभास में आपाततः परस्पर विरोधी वस्तुओं का संबंध बताया जाता है, विषम में 'अयोग्य संबंधवालों' का संबंध।

विरोध में अर्थ-प्रतीति पर्यन्त ही विरोध रहता हैं, (अर्थ-प्रतीति के बाद वह नष्ट हो जाता है) किन्तु विषम का विरोध वास्तविक होता है। (पृ० १५८—१७२)

३५. एकावली—कारणमाला :—एकावली में विशेष्य-विशेषण-भाव विवक्षित रहता है, कारणमाला में कार्य-कारण-भाव। (पृ० १६०—१८८)

३६. कारणमाला—मालादीपक :—कारणमाला में पूर्व-पूर्व पर-पर के प्रति कारण बनता चलता है ; मालादीपक

में पूर्व-पूर्व का पर-पर से एक धर्म द्वारा संबंध स्थापित होता चलता है (इसमें कार्य-कारणभाव नहीं रहता)। (पृ० १८८—१९२)

३७. पर्याय—विशेष :—एक वस्तु का अनेक स्थानों में क्रम से (एक के बाद दूसरे में) रहना पर्याय अलंकार है और एक वस्तु का एक ही समय अनेक स्थानों में रहना विशेष। (पृ० १९७—१८३)

३८. समुच्चय—समाधि :—समुच्चय में सभी कारण तुल्यबल होते हैं और एक साथ मिलकर कार्य की सिद्धि करते हैं ; समाधि में किसी कार्य को करने के लिए एक कारण के पर्याप्त रहते हुए भी अन्य कारण अकस्मात्, अप्रत्याशित रूप में आकर उसकी सिद्धि में सहायक बन जाते हैं। (पृ० २०७—२१०)

३९. „ —कारकदीपक :—समुच्चय में अनेक क्रियाओं का एक साथ होना कहा जाता है और कारकदीपक में पौर्वापर्य से—आगे पीछे। (पृ० २०७—११३)

४०. काव्यलिंग—अर्थान्तरन्यास :—काव्यलिंग में वाक्यार्थ कारण से साकांक्ष रहता है—बिना कारण दिये वह उपपन्न नहीं होता ; अर्थान्तरन्यास में वाक्यार्थ निराकांक्ष रहता है अर्थात् बिना समर्थन के भी वह उपपन्न ही रहता है। (पृ० २१६—२२०)

४१. „ —हेतु :—काव्यलिंग में कारण-निर्देश से वाक्यार्थ का समर्थन किया जाता है जिसके बिना अर्थ संगत नहीं होता ; हेतु में कारण और कार्य का अभेद बतलाया जाता है। (पृ० २१६—२२४)

४२. हेतु—रूपक :—रूपक में उपमेय और उपमान का अभेद

बतलाया जाता है, हेतु में कारण और कार्य का। (पृ० २२४—६०)

४३. ” —अनुमान :—हेतु में कारण-कार्य का अभेद-कथन रहता है ; अनुमान में चमत्कारिक हेतु (साधन) से साध्य का अनुमान कराया जाता है। (पृ० २२४—२२६)

४४. ” — अक्रमातिशयोक्ति :—हेतु में, जैसा कहा गया है, कारण और कार्य में अभेद बताया जाता है ; अक्रमातिशयोक्ति में अभेद नहीं बताया जाता बल्कि उन के क्रम का विपर्यय वर्णित रहता है। अभेद-कथन दूसरी बात है और क्रम-विपर्यय दूसरी बात। (पृ० २१४—६६)

४५. तद्गुण—मीलित—सामान्य :—दे० पृ० २३४।

४६. अतद्गुण—विशेषोक्ति :—अतद्गुण में दूसरे के गुण के ग्रहण की संभावना रहने पर भी उसका ग्रहण नहीं होता ; विशेषोक्ति में सामान्यतः कारण के रहते कार्य का अभाव वर्णित रहता है। कारण रहने पर भी कार्य न होना दोनों में है पर अतद्गुण गुणाग्रहणरूप चमत्कार-विशेष तक ही सीमित है और विशेषोक्ति कारण-कार्य-भाव के सामान्य संबंध में सर्वत्र रहती है। (पृ० २३०—१६७)

४७. व्याजोक्ति—छेकापह्नुति :—छेकापह्नुति में गोपनीय वस्तु को पहले स्वयं प्रकट [illegible] न किया जाता है ; व्याजोक्ति में गोपनीय वस्तु के किसी प्रकार (बिना स्वयं कहे) प्रकट हो जाने पर उसे छिपाया जाता है। (पृ० २३६—८२)

८. ,,—वक्रोक्ति :—वक्रोक्ति में किसी के कथन का अन्य व्यक्ति दूसरा अर्थ कर उत्तर देता है ; व्याजोक्ति में किसी प्रकार प्रकट हुए रहस्य को फिर से छिपाया जाता है। (पृ० २३६—२२)

९. पर्यायोक्ति—अप्रस्तुतप्रशंसा :—कार्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत कार्य के वर्णन से प्रस्तुत कारण की प्रतीति करायी जाती है अर्थात् वहाँ केवल कारण ही प्रस्तुत रहता है और कार्य अप्रस्तुत। पर्यायोक्ति में कार्य-कारण दोनों प्रस्तुत और अपेक्षित होते हैं। (पृ० १५०—१४१)

१०. अप्रस्तुतप्रशंसा—अर्थान्तरन्यास :—अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत सामान्य के वर्णन से प्रस्तुत विशेष की और अप्रस्तुत विशेष के वर्णन से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होती है अर्थात् वर्णन किसी एक का ही रहता है, दूसरा व्यंग्य होता है ; अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों का शब्दतः वर्णन रहता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य-विशेष का समर्थन नहीं होता, अर्थान्तरन्यास में उनका परस्पर समर्थन होता है (पृ० १४१—२२०)

११. अर्थान्तरन्यास—उदाहरण :—अर्थान्तरन्यास में सामान्य-विशेष-भाव रहता है ; उदाहरण में सामान्य-विशेष-भाव नहीं रहता, इसमें दोनों वाक्य सामान्य या विशेष हो सकते हैं। अर्थान्तरन्यास में न तो सादृश्य रहता है न उसका वाचक शब्द ; उदाहरण में सादृश्य के साथ उसका वाचक शब्द भी रहता है। (पृ० २२०—१२८)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ ४४ की ११वीं पंक्ति के बाद निम्न अंश छूट गया है। पाठक पढ़ते समय सुधार लेंगे।

वाचकोपमेयलुप्ता—जहाँ वाचक और उपमेय का लोप हो।

इत तैं उत उत तैं इतै, छिन न कहू ठहराति।
जक न परति, चकई भई, फिरि आवति फिरि जाति॥

यहाँ 'चकई' उपमान और 'फिरि आवति फिरि जाति' साधारण धर्म हैं पर उपमेय 'नायिका' और वाचक 'सी' का लोप है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
विषय-सूची	१८	समुच्योपमा	समुच्चयोपमा
११	६	पुनिरुक्ति	पुनरुक्ति
१७	अंतिम	यहाँ रज शब्द के रजोगुण और धूल तथा नेह	यहाँ नेह
४२	१५-१६	विधु उपमेय	विधु उपमान
,,	,,	वदन उपमान	वदन उपमेय
४५	पादटिप्पणी	यदेवस्य	यदेकस्य
४६	,,	यथोर्द्धम्	यथोर्द्ध्वम्
५७	१२	अलौलिक	अलौकिक
६१	१६	एक उपमान	उपमान
१०८	१६	प्रियमुख	प्रियामुख
१११	१३	अनेक अप्रस्तुतों	अप्रस्तुतों
१४७	१५	समझने	समझते
१६७	१७	१. वस्तु	१. एक वस्तु